

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180273

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 1484 / G125 Accession No. G.H. 45

Author गणेशदास, श्रीश्री ।

Title 'सह' शब्द का अर्थ । 1951

This book should be returned on or before the date
last marked below.

एक हज़ार वर्ष बाद

लेखक
काका गाडगील

प्रकाशक
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
चाँदनी चौक, देहली ।

काका गाडगील

माननीय पंडित नरहर विष्णु गाडगील को हम लोग 'काका' कहते हैं। हमारे देश में अभी तक दो 'काका' हुए हैं। एक हैं कालेलकर जी और दूसरे हैं गाडगील महाशय। कालेलकर कदाचित् बड़े काका हैं, क्योंकि स्वयं पुण्य-श्लोक बापू उन्हें 'काका' कहा करते थे। गाडगील, समझ लीजिये, छोटे 'काका' हैं। पर हैं वे सर्व-स्वीकृत 'काका'। जहाँ तक मेरा अनुमान है, लौह पुरुष सरदार भी उन्हें 'काका' कहकर ही सम्बोधित करते हैं। गत तीन-चार वर्षों से मुझे काका को निकट से देखने का अवसर मिला है। उनका व्यक्तित्व सरल, आडम्बर-शून्य, अनहंकार-मय, कर्मठ, भावयुक्त एवं सहज है। वे बहुश्रुत एवं बहुपठित जन हैं। भारतीय राजनीति में उनका स्थान ऊँचा है। वे परम देशभक्त हैं। देश के स्वातन्त्र्य-युद्ध में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया है। वे तपे हुए, अनुभवी, कष्ट सहिष्णु सेनानी हैं। वर्षों तक महाराष्ट्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति रहकर उन्होंने अपनी कर्म-कुशलता का परिचय दिया है। गत पन्द्रह-सोलह वर्षों से भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य के रूप में वे अपने गहन संसदीय ज्ञान का परिचय देते रहे हैं।

जब से दिल्ली आया हूँ—प्रायः भाड़ भोंकने के लिए—तब से मुझे काका को सब ओर से देख सकने की सुविधा मिली। मैंने देखा कि काका न केवल राजनैतिक प्राणी ही हैं, वरन् वे एक अच्छे साहित्यकार भी हैं। वे विचारक हैं। वे सुलेखक हैं। वे शैलीयुक्त हैं। मुझे इधर काका के कुछ निबन्धों को पढ़ने का अवसर मिला है। मराठी भाषा में उनकी गणना उच्च कोटि के लेखकों में होती है। उनकी लेखनशैली

अत्यन्त परिपक्व, परिपुष्ट, मौलिक, पुरातन संदर्भयुक्त एवं मर्म-स्पर्शिनी है ।

इधर, इस पुस्तिका के रूप में, उनके ये कुछ निबन्ध हिन्दी पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जा रहे हैं । मुझे इन निबन्धों में से एक निबन्ध के कथानक को स्वयं काका के मुख से, कथा के रूप में, सुनने का अवसर मिला है । केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन हो रहा था । एक दिन मध्याह्न-अवकाश के समय मैं और काका दोनों भोजनगृह में जा बैठे और काका कहने लगे—“वह कथानक जो इस पुस्तिका में ‘ग्यान् मरा नहीं.....’ शीर्षक से लिपिबद्ध किया गया है ।” मैं तन्मय होकर सुन रहा था । काका अपनी पवित्र, प्रवाह-युक्त, सुष्ठु मराठी में कहानी सुना रहे थे । और जब उन्होंने ग्यान् के पिता रामजी बुवा के ये शब्द कहे कि “ग्यान् मरा नहीं है, वह बच्चा बन गया है ।” तो मैं बच्चों के सदृश रो पड़ा और बोला, “काका, आज तुमने यह कथा सुनाकर मुझे कृतार्थ कर दिया ।” मैं पाठकों से कहूँगा कि वे काका साहब के इन निबन्धों को पढ़ें और ध्यानपूर्वक पढ़ें । वे इन्हें पढ़कर कृतार्थ हो जायेंगे । उन्हें यह अनुभव होगा कि इन निबन्धों में न केवल उच्च कोटि का साहित्य ही है, वरन् वे यह भी देख सकेंगे कि इन निबन्धों के लेखक तपस्तप्त, गहन अनुभूतिशील, कुशल, सामर्थ्यवान् एवं लोकसंग्रही साहित्य-रथी हैं । एक-एक वाक्य में गंभीर तत्त्वज्ञान को भर देने का उनमें अद्भुत सामर्थ्य है । काका अपनी लेखनी के धनी हैं । उनकी इस पुस्तिका ने निःसन्देह हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि की है । हिन्दी के निबन्ध साहित्य में यह पुस्तक अग्रगण्य होगी—ऐसा मेरा विश्वास है ।

मैं काका के प्रति हिन्दी भाषा-भाषियों की ओर से, इस निबन्धावली को हिन्दी में रूपान्तरित करने के लिये, हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश करता हूँ । इन पंक्तियों को पढ़कर कोई भी पाठक यह न समझ लें कि मैं काका के प्रति जो ये शब्द कह रहा हूँ वह उनके प्रति पक्षपात से वशीभूत होकर

[ख]

कह रहा हूँ । बन्धुवर डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट. को समग्र हिन्दी जगत् अन्यतम निबन्ध-लेखक के रूप में स्वीकार करता है । उन वासुदेव जी ने स्वयं मुझसे काका के 'एक हज़ार वर्ष बाद' वाले निबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और कहा था कि ऐसी उच्च कोटि का साहित्यिक-निबन्ध उन्हें अन्यत्र पढ़ने को नहीं मिला । मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी संसार इन निबन्धों का समुचित आदर करेगा और इन्हें पढ़कर सत्साहित्यानन्द का अनुभव करेगा ।

५, विंड्सर प्लेस, नई दिल्ली

१३ नवम्बर, १९५०

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

परिचय

१९४४ के अगस्त मास में यरवदा जेल से मेरी रिहाई हुई। यरवदा जेल में मैंने कुछ राजनैतिक सिद्धान्तों पर ग्रन्थों का लेखन किया। रिहाई के बाद कांग्रेस का काम करता रहा और जब अवसर मिलता था तब कुछ-न-कुछ घटनाओं को, जिनका अनुभव मैंने किया था, शब्दरूप में लाकर प्रकाशित किया। यह निबन्ध या लेख मैंने मराठी में लिखे थे और उनका संकलन 'साल गुदस्त' इस नाम से १९४६ में प्रकाशित हुआ। मेरे कई मित्रों के कहने पर इन निबन्धों का हिन्दी में अनुवाद करने का निश्चय किया और श्री रत्नपारखी विद्यालंकार की मदद से मैंने बहुत सारे निबन्धों का अनुवाद किया। यह सब लेख दिल्ली के हिन्दी 'हिन्दुस्तान' में पिछले दो वर्षों में छप चुके हैं। इन सब लेखों का संकलन करके यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। हिन्दी भाषा अब भारत की राजभाषा हो गयी है। अब तो सब भारतवासियों का यह कर्तव्य है कि इस राजभाषा को प्रासादिक, अर्थवाही और विशाल बनावें। जो शैली इस ग्रन्थ में है वह हो सकता है कि कुछ हिन्दी साहित्यिकों को पसन्द न हो। मराठी जीवन का परिचय 'काव्यशास्त्र-विनोद' के वातावरण में हिन्दी जगत को देने का यह प्रयत्न है। मैं आशा रखता हूँ कि जब कोई उदासीनता मन में पैदा होती है और दिल दुखित होता है तो इस ग्रन्थ के किसी पन्ने को पढ़ने से मन उत्हासित होगा।

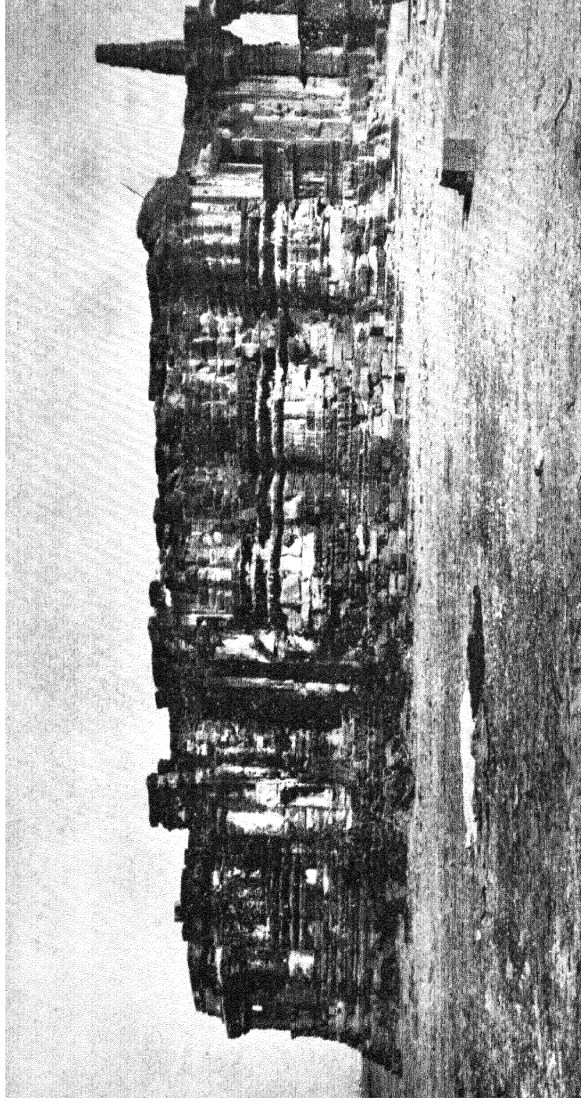
प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक
संवत् २००७, नई दिल्ली

न० वि० गाडगील

विषय-सूची

१. एक हजार वर्ष बाद	...	...	१
२. ग्यानू मरा नहीं, बच्चा बन गया है	...	...	२४
३. डिकसाल की धूल में	...	...	३३
४. क्या यही अवन्तिका पुरी है ?	...	...	४२
५. कांग्रेस का राज्य आया तो...	...	...	५२
६. तब तो सभी मुनीर	...	...	६१
७. चलो यार लन्दन चलें	...	...	६६
८. गेटीराम भैया	...	...	७८
९. अथ विमान मार्गेश	...	...	८५
१०. क्या हमें भी मताधिकार रहेगा ?	...	...	९६
११. काश ! हम मानवता का सम्मान करते !	...	...	१०३
१२. कबाड़ी बाज़ार में 'लोक-तन्त्र'	...	...	१११
१३. पड़ोस में चित्रशाला है न ?	...	...	१२०
१४. मेरी प्रथम और अन्तिम चोरी	...	...	१२८
१५. स्वर्गीय भूलाभाई देसाई	...	...	१३८
१६. खटबुने की पुकार	...	...	१४६
१७. नामदों को दुनिया जीने नहीं देती	...	...	१५६

सोमनाथ मन्दिर



एक हज़ार वर्ष बाद

“समझे, क्या हो रहा है ?” मैंने जो टेलिफोन कान पर लगाया तो मुपरिचित और प्रसन्न आवाज में ये शब्द सुनाई पड़े । आजकल घर में टेलीफोन होना घर में गजान्त लक्ष्मी होने के समान है । युद्धकाल में पैदाइश कम और मांग ज्यादा होने की वजह से सर्वत्र नियंत्रणों का राज्य हो गया था । ये नियन्त्रण चन्द वर्षों तक ही जिन्दे रहेंगे ऐसा माना जाता था, किन्तु अनुभव तो यह हो रहा है कि ये नियन्त्रण, ये कंट्रोल सप्त चिरजीवियों के समान चिरंजीव होने वाले हैं । घर में टेलिफोन होना प्रतिष्ठा, सत्ता व सम्पत्ति का द्योतक रहा है । अब भी वही हालत है । और अगर वह टेलिफोन मुफ्त में मिला हो तो कहना ही क्या ? इस पर भी अगर एक नहीं पांच हों, एक पर्सनल असिस्टेंट का, एक पर्सनल सेक्रेटरी का, एक आम, एक दफ्तर का और एक खास खुफिया, जिसका नम्बर इन्ने-गिने व्यक्तियों को ही मालूम हो, तो फिर बात ही क्या ? पहले जमाने में पंचहजारी सरदार होते थे, उसी तरह मैं आज पंच टेलिफोनी मन्त्री हूँ । किन्तु इन पांचों में से एक का भी नम्बर मुझे निश्चित

रूप से याद नहीं, क्योंकि मैं समझता हूँ कि ऐसी छोटी-छोटी बातों को याद में रखना मेरे पद की प्रतिष्ठा के लिए ठीक नहीं।

बात यह है कि उनमें से ही एक टेलिफोन पर ऊपर बताये हुए शब्दों को मैंने सुना। इसके पहले रेडियो पर जूनागढ़ के बारे में कोई महत्व का वक्तव्य होने वाला है, ऐसी खबर मिली थी। जूनागढ़ एक ऐसा सवाल था जिसके बारे में जनता और सरकार दोनों में बहुत चर्चा होती थी और रंज भी। कुछ दिन पहले मैं पूना गया था और वहाँ की सार्वजनिक सभा में कह चुका था कि 'जूनागढ़' जूना-गढ़ होने वाला है, यानी पुराना और इतिहासलुप्त हो जाने वाला है। जूनागढ़ में जो कुछ होता था वह मुझे मालूम था। वहाँ की वास्तविक स्थिति क्या थी इससे मैं परिचित था और किस तरह से वहाँ की घटनाओं में परिवर्तन करना या करवाना था यह भी मुझे मालूम था। किन्तु प्रसव हमेशा सुलभ ही होता है, ऐसा नहीं। किसी में देर लगती है, किसी में बात बहुत जल्दी हो जाती है और किसी में शस्त्रक्रिया करना ही उचित हो जाता है। उपर्युक्त शब्दों को सुनने के बाद 'नहीं' कहना बड़ा मुश्किल था और जो व्यक्ति उन शब्दों को कह रहा था वह असामान्य और परिचित था। मैंने कहा "हां।" "क्या लगता है तुमको?" मुझसे पूछा गया। मैंने कहा—“जो कुछ हुआ है वह बिलकुल ठीक है।” टेलिफोन बन्द हो गया।

रात के दस बज चुके थे। हिन्दुस्तान सरकार की नौकरी बारह घंटे से ज्यादा करके मैंने आराम का हक प्राप्त कर लिया था। मैं गद्दी पर लेट गया, किन्तु जो सवाल-जवाब हुए थे उनको अर-बार याद करता रहा। सोचता रहा—“किस बारे में यह सवाल था?” मन्त्रिमण्डल के सामने बहुत से अनिर्णित प्रश्न थे, वे एक के बाद एक मन के सामने आने लगे। अन्त में यही निश्चय किया कि जब आवाज में संतोष है और जब सरदार

खुशी में मालूम होते हैं तो जरूर ही यह सवाल जूनागढ़ के बारे में होगा। जूनागढ़ के बारे में सरदार साहब के साथ सब से ज्यादा मैं रहा यह बात सब जानते थे। “जूनागढ़ की समस्या हल हो गई, यही इसका मतलब है”; इस विचार से मेरा मन प्रमुदित हुआ और उसी समाधान के वातावरण में सब सुख और दुःख को खतम करने वाली निद्रा ने मुझे अपने अङ्क में ले लिया।

दूमेरे दिन मन्त्रिमण्डल के कमरे में सरदार साहब मुझे मिले। मैंने उनको बधाई दी, क्योंकि उस समय तक जूनागढ़ के बारे में सब बातें खुल चुकी थी। सब दुनिया उनको जान चुकी थी। जिस वक्त इस सवाल को हल करने की कोशिश हो रही थी उस समय कई लोग नाराज थे, कईयों के दिल संशय से भरे हुए थे, कईयों के हाथ कांपते थे। जूनागढ़ ने नये राजकाल में बहुत तेजीदा हालत पैदा कर दी थी। वैसे तो सवाल बहुत छोटा था, किन्तु समझ लीजिए कि वह थी तो लघुमूर्ति किन्तु बृहत्कीर्ति हो चुकी थी। जूनागढ़ कुटिल पट्यंत्र का क्षेत्र बना हुआ था। वह नीति का प्रयोग-क्षेत्र हो रहा था। बात यह थी कि जूनागढ़ में जो विजय कमाता उसके लिए अन्य क्षेत्रों में भी विजय निश्चित थी और वहां अपयश आने के माने थे हाथी के कान में चांटी का जाना और उसकी मृत्यु होनी। काम तो नाजुक था किन्तु निश्चित कदम उठाये बिना काम चलने वाला नहीं था। जूनागढ़ का सवाल इतना बड़ा, इतना महत्व का था कि मैं नहीं समझता कि उसका पूरा मूल्यांकन अभी हो सकता है। वर्षों के बाद जब वर्तमान काल का इतिहास लिखा जायेगा और सब बातें, जो आज कोई लिख नहीं सकता और कह भी नहीं सकता, जब मालूम हो जायेंगी तब जो कुछ सरदार साहब ने किया वह ठीक प्रमाण से मालूम होगा।

महान् शिल्पकार, पटेल

एक बात निश्चित है—वह यह कि जिस महान् व्यक्ति ने जूनागढ़ के सवाल को हल किया, वहां की घटनाओं को रूप और आकार दिया, वह एक बड़ा शिल्पकार और एक दृढ़निश्चयी मूर्ति है। सरदार अल्प शब्द और प्रचंड कृति के समन्वय हैं। भविष्य में क्या होगा और कैसा होगा यह तो ऐसा समझिये कि वह प्रेरणा से ही जानते हैं। लम्बा-चौड़ा वक्तव्य देना या निबन्ध लिखना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं उनकी बुद्धि तर्क-प्रधान नहीं। भावुकतापूर्ण निवेदन में वह रस नहीं लेते। व्यवहार को बखूबी जानते हैं और उनकी बुद्धि बिलकुल व्यवहारिक है।

मंत्रिमंडल में जब जब जूनागढ़ के सवाल पर चर्चा हुई मैं सदा उनका विनीत साथी रहा, और इसलिए उनका अभिनन्दन करने का सबसे अधिक अधिकार मेरा था। मैंने उनको बधाई दे दी। उन्होंने अपनी आदत के अनुसार अपना बायां हाथ मुंह के ऊपर फिराया और अपनी खास हिंदी में पूछा—“अब क्या करोगे?” मैं जानता था कि जो जवाब वह चाहते थे वही मैं दूंगा। इसका उन्हें भी पूरा यकीन था। आम तौर से उनका मन किस सवाल पर किस तरह से चलता है यह मुझे उनका निकट परिचय होने से मालूम था। मैंने जवाब दिया—“अभी तो जूनागढ़ जाना चाहिए।” “हां, कुछ ऐसा ही सोच रहा हूं,” सरदार साहब ने उत्तर दिया।

दो घंटे के बाद मंत्रिमंडल की मजलिस खतम हो गई। हमारे मंत्रिमंडल में कांग्रेस कार्यसमिति के चन्द सभासद हैं, किन्तु जैसी लम्बी-लम्बी बहस कार्यसमिति में होती है वैसी इधर नहीं होती। इसके माने यह नहीं कि यहाँ किसी को अपना व्यासंग या विद्वत्ता बताने के लिए कोई अवसर नहीं। वास्तव में कार्यकारिणी का अर्थ है जल्दी जल्दी काम करने वाली

संस्था । समझ लीजिए कि त्वरा ही उसका चैतन्य है, गति ही उसका प्राण है । ऐसा होते हुए भी हमारे मंत्रिमंडल की सभा कभी कभी घंटों तक चलती है । विषय विविध होते हैं । और जो कुछ निर्णय होता है उसका परिणाम व्यापक और दीर्घकालीन होने के कारण अधिक समय बहस में खर्च होता है ।

सभा खतम होने पर मैं घर आया । एक घंटे बाद सरदार साहब ने फोन पर पूछा -- “चलोगे न ?” दिल की बात उन्होंने कही । मन जाने को कर ही रहा था । मैंने कहा—“हां ।” सरदार साहब बोले—“संध्या को आओ, सब कुछ तय करेंगे ।” दूसरे दिन हवाई जहाज से जूनागढ़ जाने का प्रोग्राम तय हो गया ।

हवाई जहाज नवानगर के राजा साहब का था, जिनको जामसाहब कहते हैं । एक दिन पहले हिम्मतसिंह जी उसको ले आये थे । हिम्मतसिंह जी जामसाहब के छोटे भाई थे और दो वर्ष के लिए धारासभा के सदस्य भी थे । सरकार की ओर से नामजद होते हुए भी वह सरकारी ‘ह्विप’ को नहीं मानते थे । १९४६ में कई बार उन्होंने कांग्रेस के साथ राय दी थी । वह कर्नल थे और बरसों तक जापान में रहे थे । विमान की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी और उसमें सफर करने वाले मुसाफिर भी थोड़े थे । सरदार साहब, उनकी सुपुत्री, उनके सेक्रेटरी, संजय याने एसोसियेटेड प्रेस का संवाददाता । मंगल-प्रभात के समय हमने दिल्ली छोड़ी । आकाश निरभ्र था । हवाई जहाज बड़े वेग से चल रहा था । अन्दर हम सरदार साहब के साथ बातें करने में व्यस्त थे । इस देश के, खास करके राजनीतिक क्षेत्र में रहने वाले छोटे-मोटे व्यक्तियों को, सरदार साहब अच्छी तरह पहचानते थे । प्रांत-प्रांत के राजनीतिक क्षेत्र की हालत और वहां के विचार-प्रवाह का पूरा-पूरा परिचय सरदार साहब को है यह बात उनके साथ क्षणमात्र

संभाषण करने से मालूम हो जाती है। किसी व्यक्ति का वर्णन एक ही अर्थपूर्ण विशेषण से करने में वह बड़े पटु हैं। सारगर्भ वाक्य और मार्मिक पदावलि—ये तो उनके लिए बड़ी मामूली बात है। समय समय पर उनके शब्द शल्यवत होते हैं। इस बात को हमारे समाजवादी उनका एक बड़ा अपराध समझते हैं। उनके भाषण में विनोद होने के कारण वह दिल को नहीं काटता।

हमारे भाषण में बहुत सारे विषय आ गये, खास करके बम्बई के कार्यकर्त्ताओं और पार्टियों के बारे में चर्चा हुई। साहित्य को छोड़ कर सभी विषय चर्चा में आये। राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ परिवर्तन हुए थे उनकी चर्चा करते-करते रम्यता और 'क्षण क्षण नवता' प्राप्त होती थी। कुछ महीनों पहले जामसाहब के वक्तव्यों को हिंद-स्वातन्त्र्य का विरोधी माना जाता था। उनकी चाल साफ-साफ हिंद के खिलाफ थी। उनमें व सरदार में अहि-नकुलवत सम्बन्ध था। इस बात को तो मैं अच्छी तरह जानता था। मैंने जान बूझकर कर्नल साहब से पूछा—“क्यों, पहले जाम-नगर जाओगे?” “हां, जामसाहब की इच्छा है, कि पहले सरदार का स्वागत वही करें।” मैंने सरदार साहब की तरफ देखा, वह समझ गये। उन्होंने कहा—“अब सब बदल गया।” और वास्तव में बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। कुछ परिवर्तित हो रहा था और जो कुछ बचा-खुचा था वह भी निश्चय ही परिवर्तित होने वाला था। भडोल से जितना नहीं हो सकता था उतना १५ अगस्त को रायसीना में जो कुछ घटना हुई उससे भारतीय शासन के क्षेत्र में हो चुका था। मुस्थित विचार-प्रासाद गिर गये थे। राजनीतिक संसार की भूमि हिल उठी थी। अतीत अपना अवशेष केवल स्मृतियों को बता रहा था। और भविष्य कर्तृत्व को खींचने की गड़बड़ी में व्यस्त मालूम होता था। विद्यमान किंचित स्तब्ध, किंचित मंथ्रमित किन्तु

आशायुक्त दृष्टि से स्मृतियों को पीछे छोड़कर भविष्य को प्रयत्न रूपी बाजुओं में लेने के लिए आतुरता के साथ कदम-कदम उठाता था। अनेक बुद्धिमान व्यक्तियों के होते हुए भी परिस्थिति करवट बदल चुकी थी, इसका पूरा मूल्यांकन न हुआ। कितने ही सज्जन तर्क को पकड़ते हुए जो हुआ उसे अशक्य बतलाने की काशिश कर रहे थे। इतिहास के सिद्धांत भौतिक शास्त्र के सिद्धांत के समान निरपेक्ष है, ऐसा समझ कर जो कुछ हुआ वह सिद्धांत के विसंगत हो गया इसलिए वह हुआ ही नहीं इस तरह के विचार रखते थे। जैसे कि हमारे ज्योतिष जानने वाले कहते हैं कि चाहे कुछ भी हुआ हो लेकिन ग्रह ऐसा नहीं बतलाते, इसलिए वह हुआ ही नहीं, उसी तरह यह भी था। राजनीतिक क्षेत्र में जो अपने को बड़े अनुभवी और विज्ञ समझते थे वे आत्म-निरीक्षण करने लगे और सोचने लगे—‘आखिर हम विज्ञ हैं या नहीं?’ कुछ भी हो, आम जनता तो श्रद्धा के प्रकाश में नेताओं द्वारा बताये गये मार्ग पर चल रही थी।

अचल और नित्य ऐसी कोई वस्तु राजनीति में हो ही नहीं सकती, इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते थे। ये लोग प्राप्त की उपासना करके, क्या प्राप्तव्य है और वह कैसे प्राप्त होगा इस विवेचना में थे। संक्षेप में दुनिया बदल गई थी। चन्द लोगो ने समय को समझा, चन्द लोगो को समय समझता था।

जामनगर में स्वागत

हमारी बातें अभी चल ही रही थी कि हमारा हवाई जहाज जामनगर हवाई-अड्डे पर पहुंचा। यहां सब मरुभूमि थी और ऊपर निरभ्र तथा नीला आकाश था। किन्तु इन दोनों का संगम और सम्मेलन सौंदर्य को ही व्यक्त करता था। ऐसी बाह्य सृष्टि से मन का काव्यमय होना अपरिहार्य था। मराठी कवि की यह पंक्ति याद आ गई—“पति गेले काठियावाडासी,

गिरनार अबूच्या पहाडासी; ” जिसका मतलब है कि पति काठियावाड़ को चले गये, गिरनार और आबू के पहाड़ में बसते रहे। कवि तो आबू और गिरनार दो पर्वतों को एक पंक्ति में लाया है, किन्तु इन दोनों में अन्तर बहुत है। कविता का वास्तविक अर्थ यह है कि मराठा वीरों ने काठियावाड़ को जीत कर गिरनार तक मोर्चा लगाया था, अपनी वीर पत्नियों को देश में छोड़कर वे विदेश में विजय कमाते-कमाते गिरनार तक पहुँच गये थे और वहाँ उन्होंने अपनी विजय-पताका फहराई थी। इस पंक्ति को मैं मन ही मन गाता रहा। इसके शृङ्गार, वीर रस, लज्जित और समाविष्ट भावना को मन में सोचता-सोचता मैं तद् रूप हो गया। ये सब भावनाएं अब समझ लीजिए पार्थिव रूप लेने लगीं। मेरी नज़र के सामने वायुयान के बदले पचकल्याणी अबलख घोड़ा खड़ा है, ऐसा मालूम होने लगा। खादी पहने हुए सरदार को मैंने बख्तर पहन सिर पर लोहे का टोप लिये और हाथ में हथियार लिये हुए सेनापति के रूप में देखा सर्वत्र हथियार बन्द सिपाही नजर आये। दक्षिण बांह और दक्षिण आँख स्पंदन करने लगे। कुछ शुभ होने वाला है, ऐसी सूचना देने लगे। अब मैं हरहर महादेव की घोषणा करके आगे बढ़ने वाला ही था कि इतने में कर्नल साहब मेरे पास आये और बोले - “जामनगर आ गया”। मैं स्वप्न जगत से वास्तविक संसार में आया। इतने में हमारा हवाई जहाज जर्मन पर उतरा और उसकी आवाज होने से हमारा स्वप्न समाप्त हो गया। हवाई अड्डे पर फौज खड़ी थी। सलामी देने के बाद जामसाहब की गाड़ी में हम बैठे और उनके प्रासाद में गये। जलपान हुआ और उसके बाद हम मोटर में शहर की तरफ चले। मानो सब शहर रास्तों पर खड़ा है, इतनी भीड़ थी। जगह-जगह द्वार बने थे। “हिन्द विजयी हो”, ऐसे-ऐसे फलक स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए जगह-जगह नजर

आते थे। यह जामसाहब की नगरी नववधू समान मालूम होती थी। चक्रावित तिरंग निशानों की मालाएं नववधू का भाल-प्रदेश सुशोभित करती थी। जनता त्योहार की पोशाक पहने औत्सुक्य के साथ भीड़ को बढ़ाती थी। इस समय स्त्रियों की सहज सुलभ शालीनता मालूम नहीं कहाँ लुप्त हो गई थी। स्त्रीवर्ग बहुत प्रगल्भता के साथ आगे जाने की कोशिश करता था, ऐसा मालूम होता था। सब जगह पहली कतार उन्हीं की थी। संख्या में भी वह अधिक मालूम होती थी। उच्च, श्यामल किन्तु आकर्षक सिर पर जलकलश लिये हज़ारों नारियाँ मार्ग में नजर आती थी। वहाँ राजपुरुष का स्वागत करने की ही प्रथा है। हम आहिस्ते-आहिस्ते जा रहे थे। जामसाहब हमारे सारथी थे। सर्वत्र मालाओं और फूलों की वर्षा होती थी। कई मील तक मोटर चलती रही। दोनों तरफ़ जनता-सागर उत्साह से प्रफुल्लित हो रहा था, नारे सुने जाते थे। दो घंटों के बाद हम प्रासाद में वापस आये। अगर काठियावाड़ में सरदार साहब हस्तक्षेप करेंगे तो उनके लिए खतरा है, ऐसी चेतावनी देने वाले जामसाहब आज हवाई अड्डे पर सरदार साहब के स्वागत में आये, उनको बड़ा भाई कहकर आलिगन किया, उनका सारथ्य भी किया। दिल्ली-पति के समान उनका प्रबन्ध रखा। इन सब बातों को मैं सोचता रहा। इस सब का क्या मतलब है? सरदार आज सत्ताधीश है। सब गुण कांचन का आश्रय करते हैं और सब जनता सत्ता को प्रणाम करती है, यही सत्य है।

राजकोट में अपूर्व उत्साह

भोजन के बाद हम हवाई अड्डे पर आये और कोई एक घंटे में राजकोट पहुँचे। हवाई अड्डे पर मराठा पलटन ने स्वागत किया। बाद में हम रेसिडेन्सी गये।

आध घंटे में हम सभा स्थान पर पहुँचे। वहाँ प्रचंड जनसमुदाय उपस्थित था। इसी शहर में १६३६ के मार्च मास में महात्माजी ने अनशन किया था। वह बात आज याद आई। वह राजा अब स्मृति मात्र रह गया था और उस प्रधान का जो राजा से भी अधिक उन्मत्त था, आज इस दुनियां में नामोनिशान भी नहीं था। वह अनियंत्रित सत्ता बरबाद हो चुकी थी। आज के जलसे में महत्त्व का ऐलान होनेवाला है, ऐसा मालूम होता था। और जनता भी बहुत उत्सुक थी। जनता की स्वातन्त्र्य-लालसा पहले से ज्यादा तीव्र थी। जनता उत्तरदायी सरकार को पुरुषार्थ मानती है। राजकोट के ठाकुर सभापति थे और सभा में काठियावाड़ का दुश्मन और विप्लवी आज बोलने वाला था। जनता का तो वह पहले से मित्र था और राजा लोग उसकी मैत्री सम्पादन करने में व्यस्त हो गये थे। ठाकुर साहब ने सभापति की हार्दिकता से सरदार साहब का स्वागत किया और उत्तरदायी सरकार बहाल करने की घोषणा की। तालियां गूँज उठी। ब्रिजली की रोशनी में ऐसा मालूम होता था कि विकसित कमलों का यह वर्गचा है, क्योंकि जनता प्रमुदित हो गई थी और आनन्द लोगो के मुख पर नाच रहा था। सरदार साहब ने अपना भाषण गुजराती में दिया। उन्होंने केन्द्रीय सरकार की नीति का विवरण दिया; जो हिंद में आ गये थे, उनको बधाई दी और जो विरोधी थे और मुखालफत करते थे उनको चन्द सारगर्भित शब्दों में समझाया। जो अर्निश्चित थे उनके भविष्य का उन्होंने अच्छी तरह कथन किया। ज्यों-ज्यों सरदार साहब बातें करते जाते थे त्यों-त्यों जनता उत्तेजित और उल्लसित होती थी। उनका वक्तृत्व स्वर में शीतल किन्तु अर्थ में तेजस्वी था। परिणाम यह हुआ कि सागर के समान जनता के अन्दर शक्ति और बढ़वानल जो दोनों बातें थी उनपर साथ-साथ प्रभाव होता रहा। इस

दृश्य को देखकर एसोसियेटेड प्रेस के संवाददाता सरदार का भाषण न समझते हुए भी तालियां बजाते थे। अर्थ के पहले आवाज से वे समरस हो गये थे। और जब मैंने उनको अंग्रेज़ी में उस भाषण का अनुवाद बताया तो उनको यह व्यग्रता हुई कि कब मैं ये सब बातें सारी दुनियां को बताऊंगा।

रात को हम रेसिडेन्सी में रहे, वह प्रासाद-नृत्य रेसिडेन्सी जिसमें गवर्नर और वाइसराय को ही मेहमानी दी जाती थी। आज उसमें सामान्य जन और उनके नेता रह गये थे। मैं समझता हूं इस बात को भी यह परिवर्तन अच्छा मालूम होता था। जैसे जीवन में वैसे ही पार्थिव सृष्टि में भी विविधता और वैचित्र्य आनन्द को जन्म देता है। वैसे तो वैचित्र्य ही जीवन का सार है।

तारीख १२ नवम्बर १९४७ की रात हमने राजकोट की रेसिडेन्सी में गुज़ारी। यह रात संवत्सर की आखिरी रात थी। अमावस तिथि थी और आनेवाला दिन नूतन संवत्सर का पहला दिन था, वर्षारंभ का दिन। यह बात सच थी कि एक जमाना खतम हो चुका था और दूसरा शुरू हो रहा था। सुप्रभात काल में स्नान करके हम लोग हवाई अड्डे पर आ पहुंचे और चन्द मिंटो के अन्दर जूतागढ़ पहुंचने वाले थे। हमारा वायुयान आकाश मार्ग को काट रहा था। गिरनार पर्वत के शिखर नजर आने लगे। कर्नल कहने लगे—“इस पर्वत राजी में सिंह रहते हैं।” मैंने कहा—“दिल्ली में भी सिंह हैं।” उन्होंने शंका और आश्चर्य के साथ मेरी तरफ देखा। आगे मैंने कहा—“उनमें से कुछ इसी वायुयान में हैं।” और मैं सरदार साहब की तरफ देखने लगा। खुद की तरफ देखने का मोह मैंने महान तपस्वी के संयम-समान रोका। कर्नल हंसे और उन्होंने कहा—“हां, ठीक है।” किसीने कहा—“सिंह का शिकार तो गायब हो गया।”

मैंने कहा—“कुछ अवसर तक, किन्तु पलायन से। खैर मैदान तो अभी साफ हो गया।”

गिरनार पर्वत को बाईं ओर छोड़ हमारा हवाई जहाज जूनागढ़ शहर के ऊपर से किसोदे हवाई अड्डे पर उतरा। यह अड्डा जूनागढ़ से लगभग तीस मील है। हवाई-अड्डे की हालत कुछ रणक्षेत्र सरीखी मालूम होती थी। वहाँ दो-चार नागरिक नज़र आये, शेष सब सैनिक थे। सब तरफ जीप खड़ी थीं। सैनिक जन मराठा पलटन के थे। कुछ अफसर भी मराठा थे। सरदार साहब और मैं एक जीप में बैठे आगे और पीछे जीप चलती थी। उनमें सैनिक थे और उनके हाथों में स्टेनगन थीं। किसी भी काम के लिए वे तैयार मालूम होते थे। उनके शरीर में आनन्द व्याप्त था। कारण यह था कि दो ही दिन पहले जूनागढ़ की हुकूमत ने शरणागति मंजूर करके अधिकार भारत-सरकार को बहाल किया था। इस सिलसिले में इन सैनिकों ने बड़ी खूबी के साथ काम किया था। सैकड़ों अस्त्र और पठान जूनागढ़ में सशस्त्र थे और वे गड़बड़ करेंगे ऐसा माना जाता था। पुलिस और फौजी अफसर हुकूमत द्वारा मानी गई हार मानेगे या नहीं, इसका पता नहीं था। इसलिए शहर का कब्जा लेने के वक्त किसी भी हालत में उसका मुकाबला करने के लिए सब तैयारियाँ करके भारतीय-अफसरों ने प्रबन्ध किया था। यही कारण था कि हमारे सैनिक विजय के आनन्द में थे, लेकिन वे बेहोश नहीं थे। अनुशासित थे, किन्तु उद्धत नहीं थे। आगे-पीछे फौज और बीच में हमारी जीप इस तरह से हम चल रहे थे। स्टेशन को जाने वाला रास्ता खास तौर पर बनाया गया मालूम होता था। दोनों बाजू फासले-फासले पर सशस्त्र और सुसज्जित सैनिक खड़े थे। स्टेशन के प्लेटफार्म पर थोड़ी संख्या में किसान और अफसर नज़र आते थे। शरीर में पैजामा और एक खास किस्म का

कुरता, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, बदन से ज्यादा और ऊँचा, मुख पर किंचित कठोरता-- इस तरह का स्वरूप वहाँ खड़े हुए किसानों का मालूम होता था। जहाँ हम जीप से उतरे वहाँ से रेलवे के सैलून तक सैनिकों की दो कतारे खड़ी थी। बीच में से जब हम चले तो फूलों की वर्षा हुई और 'हिन्दुस्तान जिन्दावाद' के नारे सहस्र-सहस्र कंटो से उछलते रहे। इस बड़ी भारी भीड़ में मेरा मन सोचने लगा—"अगर कोई दुष्ट-बुद्धि मुसलमान हो तो क्या?" फौरन मैं सरदार साहब के पास-पास चलने लगा और ज्यादा सतर्क होकर इधर-उधर देखने लगा। हम सैलून में बैठे। इतने में कुछ अन्तर पर 'जय सोमनाथ' की आवाज मैंने सुनी। उस ओर देखा। एक ऊँचा, वृद्ध किन्तु तेजः पुंज, भाल के ऊपर तिलक लगाये, मुद्रा गम्भीर, किन्तु कृत-कृत्य का संतोष जिसके चेहरे से टपकता था, ऐसा सज्जन खड़ा था। एक बार फिर उसने वही गर्जना की और वन्दन किया। मेरी इच्छा उसकी ओर देर तक देखने की थी। इतने में गाड़ी चल दी। डेढ़ घंटे तक रेलवे का यह प्रवास जारी रहा। प्रदेश बड़ा अच्छा मालूम होता था। बीच-बीच में वृक्ष और बगीचे भी नजर आते थे। करीब दस बजे हमारी गाड़ी जूनागढ़ स्टेशन पर पहुँची। मैं सोचता था और चिन्तित भी था कि देखे क्या दृश्य नजर आयेगा। सरदार साहब आज तो विजेता के नाते से जा रहे थे। पराजित कैसा वर्ताव करेंगे, उनके विचार क्या होंगे, उनकी भावना क्या रहेगी, इन्हीं बातों पर मैं विचार कर रहा था। मन में विचारों की भीड़ थी, बाहर लोगों की। स्टेशन पर, ऐसा समझ लीजिए, श्रृंगार अपना महोत्सव मनाता था। दीर्घकाल के बाद मिलन होने के दक्त जिस किस्म का वातावरण होता है वैसा ही यहाँ था। विरह की रात खत्म हो चुकी थी। हिंदू जनता आज अन्तःकरण में कृतज्ञता और गति में निर्भयता दिखलाती थी। बरसों तक अपमानित हुआ

स्वाभिमान गर्दन को उन्नत करके नवप्राप्त सम्मान को शान के साथ अनुभव कर रहा था। सब प्लेटफार्म सचेतन हो गया है, ऐसा मालूम होता था। हरेक व्यक्ति के हाथ में फूल की माला थी। हरेक व्यक्ति सरदार साहब को हार पहनाने के लिए आतुर था। डिब्बे से उतर कर पुष्पहारों को लेते-लेते हम वेटिंग रूम में पहुंचे। वहां जूनागढ़ के लुताधिकार नौकर और हुकूमत चलाने वाले खड़े थे। नवाब साहब ने तो “मैं हाथ में शस्त्र नहीं लूंगा” मानो ऐसी प्रतिज्ञा करके जूनागढ़ को ‘अले-कुम’ करके खुद को ‘पाकगत’ किया था। जाते वक्त उन्होंने अपने साथ संपत्ति और कुत्ता यही पाथेय लिया। स्थावर को छोड़कर यही जंगम चीज उन्होंने पसन्द की। शायद उसीको उन्होंने श्रेष्ठ माना होगा। बात यह थी कि जहां उन्होंने फूल का मंचय किया था वहां आज वह कंडे उठाने के लिए तैयार नहीं थे। वह काम उन्होंने अपने वफादार ‘दोस्त-इ-दौलत’ नौकरों के ऊपर सौंप दिया था। उस कतार में खड़े हुए ओहदेदारों में न्यायाधीश थे, सेनापति थे, अष्टप्रधान थे। इनमें एक अंग्रेज और सब मुसलमान थे। अंग्रेज ओहदेदार विलकुल ‘सुख दुःखे समेकृत्वा’ जैसे रूप में था। जैसे काला-टोपी गुनहगार अलित मन से मजिस्ट्रेट के सामने खड़ा होता है उसी तरह वह खड़ा था और मुंह पर कृत्रिम हाम्य लाके नैसर्गिक दुःख को छिपाने की कोशिश करता था। जनता को वस्तु करने वाला यह अधिकारी वर्ग मणि-विहान सर्प के समान निस्तेज मालूम होता था। उनके सामने से हम जा रहे थे। हरेक का हमसे परिचय कराया जाता था। एक संस्मरणीय और ऐतिहासिक घटना हो रही थी। फ्रांस और जर्मनी की शरणार्थी के समय याद आये। बचपन में राजा पौरस ने अपनी तलवार मिकन्दर के सामने रखी थी, ऐसा मैंने इतिहास में पढ़ा था और वह बात याद आ गई। बड़े मुंह

स 'हिंद के साथ लड़े'गे' ऐसे नारे लगाने वाले ये औहदेदार अभी उत्तर के अनुयायी बन गये यह देखकर विश्वास आगया कि कभी न कभी इतिहास भी इंसफ करता है। हम आगे चले तो आगजी हुकूमत के प्रमुख सामलदास गांधी और उनके साथी खड़े थे। उनके साथ हमारा परिचय कराया गया। कुछ ही सप्ताह पहले अल्पारम्भ करके जूनागढ़ रियासत को अपने संगठन में लानेवाले सामलदासजी बड़े प्रतिष्ठा-संपन्न सज्जन हैं। बड़े धैर्य और चातुर्य के साथ उन्होंने कदम उठाया। समय को समझा। कर्तव्यभूमि को बचाया और बिलकुल ठीक मुहूर्त पर प्रहार करके विजय पाई। यह बात ठीक है कि देश में जो हो रहा था उसकी वजह से उनको विजय प्राप्त हुई। लेकिन साथ-साथ यह भी ठीक नहीं होगा कि हम उनके कर्तृत्व को कम समझे या कम मानें। जूनागढ़ की पुरानी हुकूमत और जूनागढ़ की आरजी हुकूमत इन दोनों के प्रमुख व्यक्तियों के साथ जब हमारा परिचय कराया जाता था तो मानो ऐसा मालूम होता था कि हम दो पृथक्-पृथक् जमाने से जा रहे हैं। ऐसा लगता था जैसे एक का विनाश और दूसरे का उदय हो रहा है।

मोटर में बैठकर हम शहर की तरफ चले। पुराना शहर दीवारों के अन्दर है। नई बस्ती, दफ्तर, कालेज आदि संस्थाएं किले के बाहर हैं। रास्ते में सब जगह सैनिक नजर आते थे। एक बड़ी कोठी में, जो राजप्रासाद के समान मालूम होती थी, हमारी गाड़ी गई। वहां तोपें, टैंक और हाथ में बन्दूक लिए हुए जवान भरे हुए थे। वह सेनापति की छावनी थी। वहां हमारा हैडक्वार्टर के अफसरों के साथ परिचय करवाया गया। उन अफसरों में कई महाराष्ट्रीय भी थे। चाय पीने के बाद हम सभा-स्थान पर गये। वहां भी पूरा फौजी बन्दोबस्त था। चारों ओर राइफल लिये सैनिक खड़े थे। सभास्थान को फौज ने घेर लिया था। किन्तु जनता खुश

मालूम होती थी। यह बन्धन नहीं था, संरक्षण था। जनता और सेना के मनो में मिलन हो गया था। सैनिकों को जनता देखती थी, लेकिन उसके मन में डर के बदले अभिमान था। आत्मीय वातावरण की वजह से सुख और आनन्द उस सभास्थान में क्रीड़ा करते थे। जब सरदार वहाँ आये, प्रचंड जयघोष हुआ। जनता तो उनके नजदीक आने के लिए आतुर थी ही सैनिकजन और भी आतुर थे। कुछ मिनटों के अन्दर कतार के साथ सभास्थान को घेरे हुए सैनिक जनतासागर में विलीन हो गये। खादी और खाकी एक जगह आने की वजह से विविधता में कुछ मौलिक एकता भी मालूम होने लगी।

स्वागत के बाद सरदार साहब ने अपना भाषण शुरू किया। उन्होंने मुसलमानों को पूर्ण नागरिकत्व और संरक्षण का आश्वासन दिया। फिर जूनागढ़ हिंदुस्तान में आना चाहता है या नहीं, यह सवाल किया। फौरन हिंदुस्तान जिंदाबाद के नारे लगे। हजारों हाथ ऊपर हो गये। एक क्षण के अन्दर जनमत आज्ञाया गया। भूमि पर बैठे हुए लोग अपने सहस्रावधी हाथों को ऊपर करते थे। ऊपर से सहस्र-रश्मि यह दृश्य देख रहा था। भूमिस्थित हर एक व्यक्ति मानो अपना शरीर पूर्णरूपेण वाहुरूप क्यों नहीं हुआ ऐसा मानता था और बार-बार हाथ ऊपर करता था। अनियंत्रित सत्ता के पदतलों से दलित हुए, जबरदस्ती से पीड़ित हुए जीवन और वित्त के सतत विवेचना में गिरे हुए ये जीव संकट से मुक्त हुए मानो मन का आनन्द और प्राफुल्य अपने कर-कमलों से दिग्दर्शित कर रहे थे। फोटोग्राफर को शायद ही कभी इतना मनोहारी और ऐतिहासिक दृश्य मिला होगा। ऊपर उठाये हुए हाथ मानो पुराने जमाने की पुरानी हुक्मत को स्वर्ग का मार्ग बता रहे थे।

जब सामलदास जी खड़े हुए तो फिर से जयनाद हुआ। “अब मेरा

कार्य हो चुका, मैं हिन्दुस्थान सरकार का एक आज्ञाकारी नागरिक हूँ और रहूंगा; मैंने जो कुछ किया वह जनता के लिए, उसमें न किसी जाति का सवाल था, न किसी धर्म का।" सामलदास जी के ये शब्द सुनकर प्रेक्षकों ने, जिनमें कई मुसलमान थे, तालियां बजाईं।

सभा खतम होने के बाद हम स्टेशन आये। वहां पता लगा कि हम सोमनाथ या प्रभातपट्टण को जा रहे हैं।

१३ नवम्बर १९४७ ! यह तो नवसंवत्सर का पहला दिन था। सुबह से दक्षिण भुजा फड़क रही थी। मन में कुछ व्याकुलता थी। कुछ-न कुछ अच्छा होने वाला है, ऐसा मन को मालूम होता था, किन्तु बात स्पष्ट नहीं थी। विचारों के दृष्टिद्वेष्ट में कुछ अभिनव नजर नहीं आता था। जो कुछ अबतक हो चुका था वह कोई बड़ी आने वाली घटना की सुन्दर पार्श्वभूमि है, ऐसा ही विचार मन में आया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई सुन्दर ध्वनि हम सुन रहे हैं। लेकिन आनेवाला संगीत कौनसा है, यह नहीं जान सकते थे। सैलन में सेनापति ने प्रोग्राम बताया। उसमें सोमनाथ मन्दिर को देखना भी था। वहां मुझे पता चला कि सोमनाथ मंदिर, प्रभातपट्टण जूनागढ़ के क्षेत्र में है। इस बात का पता चलते ही विचार-चक्र शुरू होगया। गाड़ी बेरावल पहुची। वहां हम गाड़ी से उतर गये और फौरन मोटर में बैठकर प्रभातपट्टण को खाना हो गये। यहां से प्रभातपट्टण ६ मील था। प्रवास में हम बिल्कुल भूमिपुत्र हो गये, यानी धूल से भर गये। रास्ते के दोनों बाजू कब्रिस्तान नजर आते थे। उनमें जगह-जगह लोग खड़े हमारा स्वागत करते थे जिससे जीवन और मृत्यु का नित्य साहचर्य प्रस्थापित होता था। थोड़ी ही देर में हम किले की गिरी हुए दीवाल के पास आये और वहां से हमने 'त्रिवेणी' में प्रवेश किया। जिस भूमिभाग पर आबादी है उसे त्रिवेणी कहते हैं। कुछ मकान ठीक थे, किन्तु

अधिकतर गिरे हुए थे। इन दोनों को देखते-देखते हम सोमनाथ मंदिर के सामने आगये। श्मशान, गिरा हुआ किला, गिरे हुए मकान मानो यह नष्ट सृष्टि हमारी आंखों के लिए पूरी नहीं थी, इसलिए हमारी दृष्टि के सामने यह भग्न मंदिर आगया। अन्तःकरण में तूफान-सा उठा। दिल बेचैन होने लगा। हमारे इर्द गिर्द सैकड़ों लोग थे। ये सब हिन्दू जिन्दा थे और हमारे सामने उनका भग्न मंदिर खड़ा था। यह दृश्य शल्य से भी ज्यादा दुःख देनेवाला मालूम हुआ। बीच में मंदिर और चारों तरफ़ खाली जगह थी। तीन तरफ़ से चहारदीवारी थी, जो बहुत कुछ गिरी हुई थी। पश्चिम में लगभग बीस फुट के फामले पर अरब सागर अमर्याद विस्तार से मानो पहरा दे रहा था। एक छोटा फाटक था, उसमें से हमने अन्दर प्रवेश किया। सामने मंदिर का प्रवेश द्वारा था, किन्तु वहां न द्वार था न चौखट।

ऊपर देखा तो शिखर भी नज़र नहीं आता था। याद आई कि इतिहास में लिखा है इस मंदिर के चंदनी दरवाजे महमूद गज़नी काबुल ले गया था। हृदय में हजारों भावनाएं उठने लगी। इसी जगह हजार वर्ष पहले इस्लाम के अनुयाइयों ने इस मंदिर की वेइज्जती की थी। इन अविधो ने बारह ज्योतिलिंगों में से एक इस 'पश्चिम' सागराधीश भगवान को मही में मिला दिया था। जान से भी धर्म प्यारा मानने वाले हिंदू जान को ज्यादा मान कर उस समय भाग गये थे। जिसके लिए जिन्दा रहना व ज़िम्मे के लिए मरना कर्तव्य समझा जाता था उस धर्म को मानने वाले उम वक्त कहां थे ? सोमनाथ के सेवादारा ने देवालय की मूर्ति के संरक्षण के लिए मृत्यु का मोल देने के बजाय द्रव्य के साथ सौदा करना चाहा। 'मैं मूर्ति बेचने वाला नहीं, मैं मूर्ति का भंजन करने वाला हूं'— इसी वृत्ति से प्रेरित होता हुआ महमूद एक महान व्यक्ति था इसमें कोई

शंका नहीं। कौन जानता है, कितनी बार वह इस महान् देश से संपत्ति और सतियां अपने देश ले गया? मन में संताप, उद्वेग, नफरत, नानाविध भावनाओं का मानो एक सम्मेलन और संघर्ष होता था। क्या सर्वशक्तिमान प्रभु एक सामान्य मानव के सामने हतबल हो गया। अपने तृतीय नेत्र से जग का मंहार करने वाला श्री शंकर अपनी तीनों आंखें बन्द करके संहार देख रहा था? नहीं, नहीं ये देवता नहीं हो सकते। ये देव नहीं, जब इनमें देवत्व और कर्तृत्व ऐसे मानने वाले लोग न हों। आग्निर परमेश्वर तो मनुष्य रूप से ही काम करता है? उसकी शक्ति या आविष्कार करने वाला माध्यम कच्चा या कायर हो तो उसमें दोष शक्ति का कैसा? भूटे धर्म से चलने वाली जनता मृत्यु-भय का त्याग ध्येय के लिए, आदर्श के लिए, कर नहीं सकती। श्रद्धा गुंजाइश को वर्दाश्ट नहीं करती। श्रद्धा या तो जीती रहगी या मरेगी। श्रद्धा और समझौते में समन्वय नहीं। एक चाल से ये दोनों नहीं चल सकते। मूर्ति को तोड़ना अगर धर्म है, अगर श्रद्धा है तो उसे बेचना धर्म-विरोधी काफिर का काम है। उसे बेचने का अर्थ अश्रद्धा प्रकट करना है। श्रद्धा के लिए मानव न मरे तो उसकी या तो श्रद्धा कम है या मानवता।

मैं मानंदर को देख रहा था। वह सौंदर्यपूर्ण कलाकृति का नमूना आज बिलकुल बेडाल मालूम होता था। रेखबध और प्रमाणबध रचना आज हताहत हुई प्रतीत होती थी। दुःखी अन्तःकरण से हमने अन्दर प्रवेश किया। पहले भाग में अभी-अभी कुछ सफाई की गई है, ऐसा मालूम होता था। आगे जाकर सोमनाथ की मूर्ति नज़र आयी, इस विचार से मैं आगे बढ़ा तो जो कुछ दृश्य देखा उससे मन और शरीर बिलकुल निश्प्राण हो गया। ऊपर देखा तो शिखर नहीं था, एक बड़ा छेद था जिससे ऊपर का नीला आसमान नज़र आता था। वही क्षेत्र था।

जिस जगह मूर्ति होनी चाहिए उस जगह एक बड़ा खड्डा था। वहां मूर्ति नहीं थी। इसी स्थान पर खड़े होकर उन अधिष्ठ ने धर्म-कार्य समझकर मूर्ति को फोड़-तोड़कर उसका भंजन किया था, यह इतिहास है। कहा जाता है कि कुछ लोग मूर्ति को बचाने के लिए उसके ऊपर गिरे। किन्तु उनको भी खतम कर दिया गया। जैसे प्राण-हीन शरीर होता है और रसहीन काव्य होता है वैसा ही वह मूर्तिविहीन मंदिर मालूम होता था। मेरी भावनाओं को सम्पूर्णतया वर्णन करने में भाषा असमर्थ है। कहाँ गई थी वह वैदिक संस्कृति, कहाँ था वह पूर्वजों का पराक्रम, क्या हुआ था उस 'कृण्वन्तो विश्वार्यम' की घोषणा को ? हमारी मत्सर वृत्ति, भाई-भाई का वैर, धर्म और देश से व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रतिष्ठा को ज्यादा मानने वाली हमारी वृत्ति—इन्होंने इतिहासकाल में हमें बरवाद किया और वही काम अभी भी हो रहा है। मुझे अपने से नफरत हो आई।

समय पर छोड़ देने वाला या धोका देने वाला धैर्य, धैर्य नहीं। निश्चय ही कुछ-न-कुछ हमारे धर्म में, या हमारी संस्कृति में, या हमारी मनोरचना में दोष है। वैयक्तिक मत का अभिमान और अहंकार समाज-कार्य के लिए हम कब छोड़ेंगे ? सामुदायिक हित और प्रतिष्ठा में हम कब रस लेंगे ? कब हम जुड़ाई का मर्म समझेंगे ? कब हम विवेक को जाँड़ेंगे ? कौन जाने, कौन यह करने वाला है ? ऐसे विपणन विचार मन को काटते थे। इतने में सामने की दीवाल के ऊपर बड़े अक्षरों में लिखा हुआ 'महाराष्ट्र' शब्द मैंने देखा। उस शब्द में क्या जादू है यह वही जानता है जिसकी मातृभाषा मराठी है। लोहा से पारम का स्पर्श होने से वह जैसे सुवर्ण हो जाता है उमी तरह यह शब्द नयनों से मन में जाते ही विपणन विचारों का रूपान्तर प्रेरणा में हो गया। अनन्त भावना इस शब्द में समाविष्ट है। अच्छा और बुरा, पराक्रम का और पराभव का अद्भुत स्वार्थत्याग

का और वांछनीय लोभ का, जीवित की तमा न मनाने वाला और जान के लिए लाचार होने वाला ऐसा विविध इतिहास इस शब्द में समाया हुआ है। हिंदवी स्वराज्य का झंडा अटक के किनारे लगाने वाले पराक्रमी पुरुषों का मैं वंशज इस भग्न मन्दिर को, इस मूर्तिहीन देवालय को कैसे देखूँ, इस दृश्य को कैसे वर्दाश्त करूँ ? शरीर रोमांचित हो गया। प्रेरणा रम्य कल्पना को जन्म देती रही। कुछ मंगल हो रहा है, ऐसी कुछ सुख की भावना मन को उल्लासित करने लगी। मैंने सरदार की तरफ देखा और मैं बोला—“यह मैं वर्दाश्त नहीं कर सकता।” कुछ और बातें मेरे मन में आ रही थीं। मैं समझा कि मेरे मन में जो हो रहा है उसका कुछ अन्दाजा सरदार को लगा। मन के विचार अधिकतर स्पष्ट होने लगे। कल्पना रूप लेने लगी। हम मन्दिर के बाहर आये और पश्चिम की ओर सागर के पास हम गये। सागर में ज्वार आ रहा था। उसे यह तो मालूम नहीं हो गया था कि मेरे मन में क्या है। जो रम्य कल्पना मेरे मन में जन्म पा चुकी थी उसका स्वागत करने के लिए तो वह नहीं आ रहा था ? जिन वीर पुरुषों ने इस देश को सदियों के बाद स्वातन्त्र्य और एकता दी उनके कृतज्ञतापूर्ण पाद-प्रक्षालन के लिए तो वह नहीं आ रहा था ? इस प्रचंड देश में बहुविध घटनाये हुई, भाग्योदय हुआ, नाश हुआ। लोग चढ़े और गिरे। इन सब बातों को देखने वाला यह गवाह ऐसा मालूम होता था कुछ बात देखने के लिए उत्सुक है। सागर के तीर के ऊपर मैंने अपनी कल्पना सरदार के भामने रखी। सुनते ही वह आनंदित हो गये। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा—“करो।”

फौरन मैं और सरदार पानी के पास आये, हमने पाद-प्रक्षालन किया और चन्द मिनट बाद हम मन्दिर के पास आये। अभी मन्दिर मेरे पीछे था। मैं, सरदार और जामसाहब प्रवेश-द्वार की देहली पर खड़े हो गये।

लोगों को बुलाया गया। दाहिने बाजू सागर क्षण-क्षण उल्लसित हो रहा था। हमारे सामने और बाईं ओर जनसागर भी उत्सुक और उल्लसित हो रहा था। पार्श्वभूमि में भग्न वस्तु निस्तब्ध थी। मैंने घोषणा की कि हिंद सरकार ने इस देवालय का जीर्णोद्धार करने का निर्णय किया है। हमारी पाई हुई सत्ता नाश के लिए नहीं निर्माण के लिए है। यही हमारा जीवन कार्य है। तालियों का प्रचंड नाद हुआ और एकाएक स्फूर्ति के साथ लोगों ने “जय सोमनाथ” की हुंकार लगाई।

एक निमिष के अन्दर सब वायुमंडल बदल गया। हां, एक हज़ार वर्षों के बाद इस स्थान पर इस घड़ी में यह घोषणा हो रही थी। एक हज़ार वर्षों के बाद इतिहास अपना ऋण चुका रहा था। जामसादब ने एक लाख रुपया प्रदान करने की घोषणा की। वहां से जनसमूह ‘जय सोमनाथ, जय सोमनाथ’ नारे लगाता हुआ देवी अद्वित्यादेवी द्वारा बनाये हुए सोमनाथ मंदिर की तरफ चला। वहां सभा का प्रोग्राम रखा गया था। उसी सभा में सरदार साहब ने भी ऐलान किया—“आज नूतन संवत्सर का पहला दिन है। आज के शुभ अवसर पर शिवालय का जीर्णोद्धार करने का निर्णय हिन्दुस्थान सरकार ने घोषित किया है।” फिर से ‘जय सोमनाथ’ के नारे सुने गये और लोगों ने इस बारे में दान देने के ऐलान किये। सारा प्रभातपट्टन माना आज जाग्रत हो गया। यह इतिहासकालीन युद्ध-घोषणा हज़ार वर्षों के बाद प्रभातपट्टन की आवादी में सुनाई गई। सभा-समाप्ति के बाद हम वापस चले। मेरे मन में यह विचारधारा बहने लगी कि आगे कैसे काम करें। रास्ते में क्लिले के पास सरदार साहब बोले—“इसको दुरुस्त करो। इस श्मशान, इस कब्रिस्तान की जगह बगीचा बनाओ।” मतलब यह था कि नष्ट-युग समाप्त हुआ था और निर्माण-युग शुरू हुआ था।

सोमनाथ के जीर्णोद्धार का निर्णय बेतार के तार द्वारा चन्द मिनटों के अन्दर भारत देश में फैल गया। वेरावल स्टेशन के ऊपर सेवादार आये। उन्होंने हमें आशीर्वाद दिया। गाड़ी चली। हम किसोदे स्टेशन आये और वहाँ से हवाई-अड्डे पर गये। आध घंटे के अन्दर हम जामनगर के हवाई-अड्डे पर पहुँचे। वहाँ तो ज़बरदस्त भीड़ जमा थी। रानी साहिबा ने हमें बधाई दी। दरबार गोपालदास बोले—“अभी मुझे पता लगा है कि सरदार के साथ आप क्यों आये? जीवन में यह कुछ नया अनुभव नहीं था। जो किया था वह स्फूर्ति के साथ, उसके बारे में कुछ दीर्घ विचार या पूर्व सूचना नहीं थी। किन्तु स्फूर्ति ने जो कुछ किया उसके लिये संकल्प का सद्गुण मुझपर लगाया गया, ऐसा अनुभव बहुत बार मुझे हुआ है। चाय लेने के बाद हम फिर विमान में बैठे। तेज़ी के साथ दिल्ली की ओर हमारा विमान जा रहा था। आते वक्त क्या विचार थे और जाते वक्त क्या। मुझे ऐसा लगता था जैसे मेरे नयनों के सामने हज़ारों हिन्दू वीर ‘जय सोमनाथ, जय सोमनाथ’ कर रहे हैं। सर्वत्र आनन्द और मंगल नज़र आता था। वास्तविक कार्य में कुछ विलम्ब था, किन्तु कल्पना का बीज बोया जा चुका था। एक हज़ार वर्षों के बाद इतिहास अपनी चाल बदल रहा था। यह एक बिल्कुल क्रांतिकारी बात थी और देश ने भी वैसा ही माना। किसी ने कहा—“हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा है।” किसी ने कहा—“पुरानी कला का उद्धार हो रहा है।” किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। किन्तु एक बात में सब की राय एक थी, और वह बात थी ‘जय सोमनाथ’ की घोषणा।



“ग्यानू मरा नहीं, बच्चा बन गया है”

जो राजबन्दी जेल से छूटकर आते हैं, उनका यह एक कर्तव्य हो जाता है कि वे उन कैदियों के सगे सम्बन्धियों से मिलें, जिनके साथ उन्होंने जेल में दिन बिताये हैं। महीनों तक अथवा बरसों तक जो लोग इकट्ठे रहते हैं, उनके स्नेह-सम्बन्धों का एक-दूसरे के जीवनों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यदि यह सहनिवास बाहर न होकर जेल में हुआ हो तो उसका प्रभाव जीवन पर और भी अधिक पड़ता है आज मुझे यह नहीं बताना है कि दीर्घ-कालिक कारावास का व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव होता है, प्रत्युत जब कैदी यह बताता है कि इकट्ठे एक साथ नहीं छूटते, कभी कोई छूटता है कभी कोई, तो उस अवस्था में उनकी मानसिक अवस्था क्या होती है। पच्चीस गत वर्षों में दस बारह बार मैं जेल हो आया हूँ। तीन प्रांतों की कुल जमा सात जेलों में रहने का अवसर मुझे

मिला है। जितनी बार जेल गया उतनी ही बार जेल से छूटा भी। जीवन और मरण जैसे एक द्वन्द्व है, उसी प्रकार कैद और रिहाई भी एक द्वन्द्व है। जिस प्रकार यह एक अटल नियम है कि जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा उसी प्रकार यह भी अटल ही है कि जो गिरफ्तार हुआ है वह रिहा होगा। पर इसका यह मतलब नहीं कि इस नियम का अर्थ-ज्ञान राजवन्दी को पहले ही किसी दिन हो चुका होता है। हां एक बात पक्की है। रिहाई के दिन उसकी मानसिक अवस्था अनिश्चित-सी रहती है। वह खुशी भले ही महसूस कर रहा हो फिर भी उसके चित्त में एक प्रकार का विभ्रम-सा रहता है। अपने अनेक क़ैदी साथियों को पीछे छोड़कर जब वह रिहा होने लगता है, उस समय उसकी मनोदशा बहुत कुछ दयनीय रहती है। उस अवस्था में वह अनेक राजवन्दियों के संदेश लिया करता है, ताकि उन्हें वह उनके प्रियजनों तक पहुंचा सके।

मैं जब जेल से छूटा तो उस समय अपने साथ जेल में रहनेवाले अनेक तरुण कार्यकर्त्ताओं के संदेशों का, जिन्हें उनके प्रिय परिजनों तक पहुंचाना था, बोझा लिए हुए बाहर आया। प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न अनेक रीतियों से कैदियों का अपने प्रियजनों से पत्र-व्यवहार तो चलता ही रहता है, तो भी जेल से रिहा होकर आए हुये व्यक्ति के मुख से अपने बेटे, भाई तथा पत्नी की खबरें सुनकर सम्बन्धियों को ऐसा ही आनन्द अनुभव होता है, जैसा उनको प्रत्यक्ष मुलाकात में हुआ करता है। कालिदास की यह उक्ति 'कान्तोदन्तः . . . मंगमात किञ्चित् न्यूनः' पूर्ण-तया सार्थक है। प्रियजनों के समाचारों का महत्व उतना ही होता है, जितना उनके साक्षात्कार का होता है। सो इस प्रकार के संदेश-वाहन के अनेक भार अपने कंधों पर लिए मैं बाहर निकला था; पर बाहर आने पर मुझे इस मेघदूती काम के स्थान पर कुछ और ही काम करना पड़ा।

अपने प्रांत के इस छोर से लेकर उस छोर तक जाना मेरे लिए आवश्यक हो गया था। असफल एवं अन्यमनस्क जनता में उत्साह-संचार के लिए गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की ध्वनि जहां-तहां सुनाई दे रही थी। जनता को अनाथ और असहाय अवस्था में समझकर क्षुद्र अधिकारियों द्वारा स्थान-स्थान पर किए जाने वाले अत्याचारों का आर्तस्वर भी निरंतर सुनाई देता जा रहा था। इसी प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में मैं सतारा जिले के प्रशांत रमणीय कृष्णा तीरवर्ती प्रदेश में परिभ्रमण कर रहा था। कल्हाड के पवित्र नगर तथा पुण्यक्षेत्र में कोयना नदी के प्रीति संगम के कारण उल्लसित और प्रोत्साहित हुई कृष्णा नदी उस गांव के समीप से होकर बह रही थी। जब मैं गांव में प्रविष्ट हुआ उम समय रात के दस बजे होंगे। आकाश में चन्द्रमा का प्रकाश फैला हुआ था। नदी की तीरवर्ती भाड़ियों पर, नदी की धारा पर, नदी की रती पर इस चन्द्र प्रकाश के जो विविध स्वरूप प्रतिफलित हो रहे थे, उन्हें देखकर चित्त आह्लाद का अनुभव कर रहा था। मेरे मन में प्रश्न उठा, क्या इस चांदनी में यथेच्छ विहार करने वाले इस ग्राम के निवासियों के चित्त में भी इसी प्रकार का आह्लाद होगा? अपने साथ के कार्यकर्ता से मैंने इस गांव की सारी घटनाओं का इतिवृत्त पूछना आरम्भ किया।

जनता का उत्साह

मेरा यह पथ प्रदर्शक एक सोलह सत्रह वर्ष की उम्र का कार्यकर्ता था। उसने मार्क्स के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था, उसे कांग्रेस के इतिहास की जानकारी नहीं थी, विश्व से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर आजकल किस प्रकार का विचार-प्रवाह चल रहा है यह उसे मालूम नहीं था। आन्दोलन के आरम्भ काल में सब कहीं जो एक तूफान-सा आ गया था, उसमें पाठशाला के जीवन से वह बाहर फेंक दिया गया था। यद्यपि इस

पथ-प्रदर्शक की पढ़ाई-लिखाई केवल चार पांच कक्षाओं तक ही हुई थी और यद्यपि वह उम्र में भी छोटा ही था, तो भी उसे देखकर हठात् बहिर्जी (शिवाजी के एक दूत) का स्मरण हो आता था । गत दो वर्षों में वह कहां-कहां घूमा फिरा, क्या-क्या काम वह करता रहा, इत्यादि उपन्यास जैसे रहस्य भरे वृत्तांत वह सुनाता जा रहा था, जिन्हें सुनकर मेरे शरीर के रोगटे खड़े हो आते थे । मैंने कहा,---राघू तेरी बात तो हो गई, अब अपने गांव की बातें सुना न !” उसने कहा---“जब हमारा मोर्चा ठन रहा था, उस समय गोलियों से इस गांव के सात व्यक्ति मारे गये, अनेक घायल हो गये, पचास-साठ आदमियों को सज़ाएं हुईं, और दो सौ से ज्यादा व्यक्तियों को ‘डेटिन्यू’ बनाकर सरकार इस गांव से पकड़ कर ले गई । सिर्फ दो दिन पहले ही की बात है; पुलिस वाले इस गांव के फ़रार हुये आदमियों को पकड़ने के लिए आये थे । बात यह है कि सरकार पूरी तरह से इस गांव के पीछे पड़ी हुई है ।”

“इस गांव में कितने घर हैं ?” मैंने पूछा ।

“बड़े और छोटे सब मिलाकर सौ के करीब घर हैं ।” उसने उत्तर दिया । मेरे मन में विचारों का एक मन्त्र-सा चलने लगा । इतने से गांव में इतने लोगों को सज़ा हुई, इतनों को पकड़ लिया गया, इतनी बार पुलिस का छापा पड़ता है, तब भी जिनका धैर्य विगलित नहीं होता ऐसे ग्राम-बन्धुओं का दशन करने का अवसर मुझे प्राप्त हो रहा है, सचमुच यह तो बड़ा अहोभाग्य है ।

हम गांव में प्रविष्ट हुए । अनेक ग्रामवासी मेरी गह देख रहे थे । उनमें चौदह से लेकर अठारह वर्ष की उम्र के लोगों की ही अधिक भरमार थी । उनके साथ मैं अपने ठहरने की जगह पर आया । ग्राम के बहुत-से-छोटे-बड़े लोग मुझ से मिलने के लिए आए तथा उन्होंने आठ अगस्त के बाद

को उस गांव की उल्लेखनीय घटनायें कह सुनाईं। नेता के न रहते हुए पथ-प्रदर्शक के न रहते हुए इन लोगों ने जो कुछ काम सहज स्फूर्ति के वश होकर किया वह जहां पूर्ण अहिंसात्मक था वहां वह उदात्त भी था। इसी उदात्त वृत्ति तथा भावनाओं का आविष्कार रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा इन गांवों और इस प्रदेश में दृष्टिगत हो रहा था। गांव वालों के आपस के बड़े-बड़े झगड़े गांववाले ही पंचायतों की मार्फत तय कर लिया करते थे। कार्यकर्त्ताओं के संगठन के कारण सरकारी अधिकारियों पर जैसा एक प्रकार का आतंक-सा बैठ गया था, वैसा ही आतंक गांव के गुण्डों, डाकुओं और छुटेरों आदि पर भी बैठ गया था। गांव की सफाई भी बहुत बढ़ गई थी। ग्रामवासी कार्यकर्त्तागण बड़े अभिमानपूर्वक कहा करते थे कि ग्राम-राज्य का कार्य हम पूरा करके रहेगे। उनके संगठन कार्य की प्रतिक्रिया स्वरूप ही इस भाग में पुलिस वालों की इतनी दौड़-धूप मची हुई थी। मेरे मन में अनायास हा मवाल पैदा हुआ, ये लोग अपने उद्योग में कहाँ तक खरे उतरेंगे।

गर्दन भुकेगी, पर

कृष्णा एवं गोदावरी के मध्यवर्ती दोआब का यह प्रदेश वही था जहां औरंगजेब ने लगातार बीस बरस तक सिर पटका परन्तु वह इसे जीत न सका। महाराष्ट्र की राजधानी को कर्नाटक से जिजी नामक स्थान पर ले जाकर बीस बरस तक स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए अखंड रूप से लड़नेवाले हटी मरहटों के ये वंशज भला कष्टों और यातनाओं के मुकाबले में कभी हार मान सकते हैं? औरंगजेब का अनुभव था कि 'जहां शत्रु रहते हैं, वहां उनका राज्य रहता है।' यही अनुभव स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए मृत्यु की कीमत चुकानेवाले, स्वदेश के लिए फकीरी को स्वीकार करने वाले लोगों का भी है। जुल्म और जबरदस्ती के कारण गर्दन भुंक भी जाय तो

भी उनके सम्मान-अभिमान में कभी झुकाव नहीं आयेगा। हथकड़ियों से हाथ जकड़े जा सकते हैं, पर आशावाद को कौन जकड़ सकता है ? नागरिक स्वातन्त्र्य की अवस्था यह है कि उसे जितना ही कुचलने की कोशिश करो उतना ही उसके प्रति विद्यमान आकर्षण की तीव्रता बढ़ जाती है। खुले आम चौराहों पर चलनेवाले आन्दोलन जुलम जबरदस्ती के कारण तहखानों तथा अरण्यवनों में पहुँच जाते हैं। 'भासमान' व्यक्ति 'भूमिगत' हो जाते हैं। वह व्यक्ति जिसकी चर्चा हर एक की जीभ पर रहती है, अज्ञात हो जाता है। सर्वत्र संचरण करने वाला व्यक्ति फरार समझा जाता है। वृद्ध बोलने लग जाते हैं। मनुष्यों का मौन अधिक मार्थक हो जाता है। एक चीटी जिस प्रकार दूसरी चीटी से मिलती है और किसी प्रकार का प्रस्ताव अथवा प्रस्तावना न करते हुए, चुपचाप चीनी कहां है यह बताती जाती है, उसी प्रकार यह स्वातन्त्र्य की 'सीटी' अरण्यवनों में 'सुनने वालों' को ही सुनाई देती है, संदेश देती है। संदेश पहुँचाने का काम जड़ और चेतन दोनों ही करने लगते हैं। एतद्विषयक जो बातें अनेक राष्ट्राँ के इतिहास में हमने पढ़ी थी, वे ही आजसाक्षात् रूप से इन आंखों के सामने से गुज़र रही थी और मन में यह विश्वास भी दृढ़ होता जाता था कि इतिहास का नियम कभी असत्य सिद्ध नहीं होगा।

इसी बीच मेरे पथ-प्रदर्शक ने मुझे आशा दी—“अब रामजी बुवा के पास जाना चाहिए।”

मैंने पूछा—“कौन-से रामजी बुवा ?”

उसने बताया कि रामजी बुवा उसके गांव के एक बड़ई हैं। दो बरस पहले उनका इकलौता लड़का 'ग्यान्' मोर्चों में गोली का शिकार बनकर मर गया था, अतः उनसे मुझको अवश्य मिलना चाहिये। मैंने उसकी यह प्रार्थना तत्काल मंजूर की और पांच-दस मिनटों में ही हम

उनके एक बड़े से मकान में पहुँच गये। जेल से छूटकर बाहर आते समय जिस प्रकार के संदेशवाहन का भार मुझ पर था यह वस्तु और यह प्रसंग उससे भिन्न था। वृद्धावस्था में अपने इकलौते पुत्र से हाथ धो बैठे हुए एक व्यक्ति से मुझे मिलना था। मैं विचार करने लगा कि उससे क्या कहा जाय ? किम भाषा में, किन शब्दों में उसको ढाढ़स बंधाया जाय इसका निश्चय ही नहीं हो पा रहा था। जिसने अपने यौवनकाल में अनेक व्यक्तियों के घर खड़े किये होंगे, उसी का घर आज दैव ने ढहा दिया था। यह विश्वकर्मा (बढ़ई को विश्वकर्मा कहते हैं) आज पूर्णतया परास्त हो चुका था। जिस प्रकार बमूले से छीली-तराशी गई ऊबड़-खाबड़ लकड़ी को उमेदी गई यातना के परिमार्जन के लिए बारीक रेंद से चिकना बनाकर सान्त्वना दी जाती है, उसी प्रकार दैव ने भी उस बढ़ई के बारे में किया था; अर्थात् गोली-कांड में लड़के की मृत्यु हो जाने के पश्चात् एक-दो महीने में ही उसका पोता पैदा हो गया था।

ग्यान् बच्चा बन गया है

बरामदे में एक कमली बिछाकर उस पर वह वृद्ध सज्जन बैठे हुए थे। पास में दो-तीन और सज्जन बैठे हुए थे। मैंने जाते ही उन्हें अभिवादन किया और मेरे मना करने पर भी उस वृद्ध ने मेरे पैरों पर अपना सिर रख दिया। क्या बोलें, यह सूझता ही नहीं था। मेरा वक्तृत्व पक्षाघात-पीड़ित व्यक्ति के अंगों की भांति निर्धन्य हो गया था। प्रांतभा कुंठित हो गई थी। मंकटकाल में जिस प्रकार मित्र साथ छोड़ देते हैं उसी प्रकार शब्द भी जिह्वा का साथ छोड़ गये। जैसे तैसे प्रयत्न करते हुए मैंने कहा—“ग्यान् बड़ा खुशनमीब था, इस प्रकार की मृत्यु तो मागने से भी नहीं मिलती।” मेरा वाक्य अभी समाप्त भी नहीं हो पाया था कि पास ही में बैठे हुए दो बरस के अपने पोते को और नज़दीक

लेते हुए वह वृद्ध बोला — “नहीं, नहीं, ग्यान् मरा नहीं। ग्यान् बच्चा बन गया है।” और ऐसा कहकर उसने उस छोटे-से अर्भक को मेरे पैरों पर रख दिया। मैं और भी विभ्रम में पड़ गया। “ग्यान् मरा नहीं, ग्यान् बच्चा बन गया है।” इसका सम्पूर्ण अर्थ जब मेरे ध्यान में आया तब मुझे अत्यन्त कृतार्थता अनुभव हुई। जो आत्मज्ञान प्रवचन से उपलब्ध नहीं होता, केवल बहुश्रुत होने से उपलब्ध नहीं होता, वह इंग वृद्ध को कहां से प्राप्त हो गया? ग्यान् मरा नहीं, वह अमर है यह तत्त्वज्ञान उस निरक्षर ने कैसे जान लिया? आत्मा का अमरत्व मानवीय जीवन-धारा की अखंडता में है यह इसने कैसे पहचाना? ‘आत्मा वै पुत्र नामसि’ इस वेदांतगत रहस्य का इसे कैसे पता चला? दुःखप्रद घटनाओं का उत्साहवर्द्धक अर्थ निकालकर उत्कृष्ट स्वरूप की मनःशांति कर लेने की कला इसे कैसे हस्तगत हुई? ‘ग्यान् बच्चा बन गया है’ इस वाक्य द्वारा आशावादिता का एवं प्रयत्नों की अमरता का एतादृश नितोत् सुन्दर रीति में प्रदर्शन किस साहित्यिक ने उसे सिखाया?

पौरस्त्य संस्कृति की मूर्ति

स्वान्वय की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न—किंवा किसी भी श्रेष्ठ आदर्श की प्राप्ति करने के लिए किया गया प्रयत्न—अनाथ अवस्था में नहीं मरता, नहीं नष्ट होता, यही उसके कहने का अभिप्राय था न? एक ज्योति से दूसरी ज्योति के प्रज्ज्वलित हो जाने पर दोनों के प्रकाश में अन्तर कैसे रहेगा? इसके विपरीत अधिक प्रज्ज्वलन का परिणाम अधिक प्रकाश होता है, यही उसका अर्थ है। नई पीढ़ी का अभिप्राय है प्रयत्नों के लिए अधिक काल, अधिक क्षेत्र तथा अधिक आशा। जिसके लिए मृत्यु एक क्षुद्र-सी वस्तु है, एक क्षुद्र-सी घटना है, जिसने मृत्यु को एक अनित्य अनुभूति मानकर नित्य एवं निरन्तर रहने वाली अनुभूति को जीवन माना

है, जिसने जीवन का अर्थ माना है आशा, वही सच्चा समदर्शी नहीं क्या ? स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है, स्थितप्रज्ञ क्या खाता है, कैसे रहता है, कैसे बोलता है इसका नित्य विवेचन हमारे में से अनेक लोग अहर्निश किया करते हैं। परन्तु वैसा (स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति मुझे आज साक्षात् दिखाई दिया और मैं तो कहता हूँ, जिस समाज में इस प्रकार का एक भी व्यक्ति मौजूद है वह समाज धन्य है, उसका भविष्य उज्ज्वल है। उपनिषदों की सच्ची संस्कृति मेरे समक्ष सदेह रूप में उपस्थित थी। पौरुष संस्कृति का यह एक मूर्तिमान दृश्य था। यह तथा ऐसे अनन्त विचार मेरे मन में उठ रहे थे। इसी बीच मेरे उस तरुण कार्यकर्ता ने सभा का समय हो जाने की सूचना देते हुए मुझे उस दिव्य स्वप्नावस्था से जगाया। रामजी बुवा के पैरों पर अक्षरशः अपना मस्तक रखकर मैं वहां से बाहर निकला। मेरे मस्तिष्क में “ग्यानू मरा नहीं, वह बच्चा बन गया है” यह वाक्य लगातार चक्कर काट रहा था और आज जब मैं यह लिख रहा हूँ मेरी पुनः यही अवस्था हो रही है और वैसा ही आनन्द अनुभव हो रहा है जैसा कि उसके प्रथम बार श्रवण करते समय हुआ था। अपने उस आनन्द का एक अंश भी यदि मैं अपने पाठकों तक पहुँचा सका तो मैं समझूंगा कि बड़ी भारी कमाई मैंने कर ली।



डिक्साल का धूल में ?

‘न’ सेकण्ड क्लास का टिकट है और न इंटर का ।’ टिकट बाबू के इन शब्दों को सुनते ही मेरे मुँह से अनायास निकल गया—

“बेचारे लोग निराश हो जायेंगे ।” टिकट बाबू ने यह सुन लिया । क्या हुआ कौन जाने, उसने मुझे फिर खिड़की के समीप बुलाया और कहा, “माफ़ कीजिए, इंटर का एकाध टिकट होगा, ऐसा प्रतीत होता है । पांच-छः मिनट में मैं आपको बताऊंगा ।” मैं पूना स्टेशन पर सेकंड क्लास के टिकटघर की खिड़की के सामने, कंधे पर नई फैशन की भोली डाले, परीक्षाफल की बाट जोहनेवाले विद्यार्थी की भांति खड़ा रहा ।

अकलूज में एक नई पद्धति की शादी होने जा रही थी, मुझे उसका ‘अध्यक्ष’ बनने के लिए जाना था । रात की मेल ही सबसे अधिक सुविधा वाली गाड़ी थी । मेल में डिक्साल का टिकट नहीं मिल सकता था अतः सौ मील आगे के कुर्दवाडी नामक जंकशन का टिकट लेने की कोशिश करना ज़रूरी होगया । समाज में विद्यमान विषमता की भांति यात्रा का यह श्रेणी-विभाजन एवं विषमता तो सम्प्रति और भी अधिक असह्य हो उठी है ।

टिकट बाबू की कहानी

जेल से छूटे हुए अनेक कार्यकर्ता ग्रामसुधार कार्य की इच्छा से गांवों में जाकर बस गये हैं। अनेक स्थानों पर उन्होंने नई पद्धति की शादियां रचाना भी शुरू कर दिया है। ऐसी ही एक शादी का पुरोहितपन एक भी मंत्र और विधि न जाननेवाले वेदोनारायण के पल्ले आ पड़ा था, और इसी कार्य के लिए टिकट लेने की यह उछल-कूद हो रही थी। उन पांच मिनटों में न जाने कितने प्रकार के विचार मस्तिष्क में होकर गुज़र गये। उसी समय शोलापुर के कुछ लोग टिकट की आशा से वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने मुझे नाम लेकर पुकारा। नामोच्चारण से स्वभावतः टिकट बाबू पर कुछ प्रभाव पड़ा और उसने मुझे तत्काल अपने पास बुलाया तथा इंटर का टिकट पकड़ा दिया।

उसकी इस भद्रता के लिये मुझे थोड़ी कीमत भी चुकानी पड़ी। दस मिनट तक वह अपनी नौकरी का सारा कच्चा चिट्ठा सुनाता रहा। २३ वर्ष तक वह अनेक ए० टी० एस० और डी० टी० एस० (जिसका अर्थ मुझे बिलकुल नहीं मालूम) के साथ किस प्रकार लड़ा, यह उसने बताया। उसका भाई एम० ए० होकर भी बेकार है, और उसने नॉन-मैट्रिक होते हुए भी पूना के एक उपनगर में दंगला बनवाया है। उसके लड़कों ने सन् '४२ के आंदोलन में किस प्रकार उसकी बात नहीं मानी। उसकी कहानी में ये बातें सम्मिलित थीं। मुझे भय लगने लगा कि अब वह अपना महाभारत पूरा किये बिना चैन न लेगा। मैं इससे अपना पिंड छुड़ाने का उपाय सोचने लगा। इतने में रणांगण पर जानेवाले सैनिकों की हलचल शुरू हुई और उसका फ़ायदा उठाकर मैं वहाँ से खिसक गया। टिकट मिल जाय और वह भी एक भी पैसा अधिक खर्च किये बिना, तो इस आनन्द को पुत्रजन्मोत्सव के आनन्द के समान ही समझना चाहिए।

आखिरी गाड़ी भी आगई

गाड़ी के आने में अभी डेढ़ घण्टे की देर थी। टिकटघर के समीप दिखाई देने वाली सारी आकृतियाँ प्लेटफार्म पर दीखने लगीं। जादूगर की टोपी में से जिस प्रकार चीज़ बाहर निकल आती है, उसी प्रकार बाक़ी न रहने पर भी अनेक व्यक्तियों को टिकट मिल गये, यह देखकर थोड़ा आनन्द हुआ और थोड़ी चिन्ता भी हुई। आखिर ये सारे लोग डिब्बे में भीड़ मचाये बिना न रहेंगे।

डेढ़ घंटे इन्तजार करने के पश्चात् आखिर गाड़ी भी आ ही पहुँची। कुली ने मुझ से कहा, 'आप डिब्बे के भीतर चले जाइये मैं आपका बक्स आपको पकड़ा दूँगा।' ज्योंही गाड़ी थमी, उतरने वालों और चढ़ने वालों के बीच द्वन्द्व शुरू हो गया। जो काम तरीके से किया जाने पर दो मिनटों में ख़त्म हो गया होता, वह दस मिनट में भी नहीं हो पाया। रावण के दरबार में अंगद ने जिस प्रकार गवाक्ष के द्वार से प्रवेश किया था, मैं भी उसी प्रकार डिब्बे में प्रविष्ट होकर बैठे हुए यात्रियों की जांघों पर धम्म से गिर पड़ा। मेरे इस पराक्रम से आस-पास के चार-पांच आदमियों को तकलीफ़ तो ज़रूर ही हुई होगी। यह भी सम्भव था कि वे मुझ पर टूट पड़ते, किन्तु डिब्बे की सारी ही खिड़कियाँ प्रवेश-द्वार बन गई थी, और फिर यह आजकल रोज़मर्रा की बात हो गई है, अतः किसी ने उसे बहुत ज़्यादा बुरा महसूस नहीं किया। सोडावाटर के बक्से में जिस तरह सोडावाटर की बोतल ठूँसकर भर दी जाती हैं, उसी प्रकार ३६ आदमियों के उस छोटे से डिब्बे में ७० से भी ज़्यादा आदमी हो गये थे। जो अन्दर आ गये थे वे अन्दर वालों से एका करके नये आने वालों के साथ लड़-झगड़ रहे थे। गाड़ी के हिलते ही तीर की तरह एक तरुण व्यापारी ने डिब्बे में प्रवेश किया। उसके साथ लड़ा जाय था उसकी दक्षता की

तारीफ़ की जाय, इसका अभी फैसला भी नहीं हो पाया था कि गाड़ी का वेग बढ़ गया और अन्दर की जनगंगा शांत हो गई ।

डिब्बे में युद्ध

तथापि इस क्षण भर के प्रशांत वातावरण के पीछे एक उथल-पुथल भी छिपी हुई थी । बर्थों पर कुछ व्यक्ति सोये पड़े थे । दैचो के मध्य में तथा दरवाजे के सामने सामान अस्तव्यस्त रूप में पड़ा हुआ था । इधर-उधर भी कुछ लोग अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े सो रहें थे । उन्हें देखकर ऐसा मालूम होता था कि कोई जोर का भूचाल आया है जिसके कारण सब कुछ अस्तव्यस्त हो गया है ।

कुछ लोग टेढ़े-मेढ़े बैठे हुए थे, कुछ खड़े हुए थे । कुछ लोगों को खड़े रहने के लिए भी जगह नहीं थी । उनमें से बहुतेरे सैनिक थे । एक ने ऊपर सोये हुए एक सज्जन को हिलाकर बैठने के लिए जगह देने को कहा । उक्त सज्जन मद्रासी थे । उन्होंने उत्तर दिया, यह जगह बैठने के लिए नहीं, सोने के लिए है । सैनिक ने डिब्बे का युद्धक्षेत्र का रूप देकर ऊपर के दुश्मन का तत्काल नीचे खींच लिया । मद्रासी यात्री ने डिब्बे में मौजूद टिकट-चैकर से चिल्लाकर कहा कि इस सिपाही ने मुझ पर हाथ उठाया है, मेरे साथ मारपीट की है ।

‘आपकी आकृति से तो ऐसा नहीं मालूम होता ।’ चैकर ने मुह बना कर उत्तर दिया ।

डिब्बे में बैठे हुए सारे यात्री ठहाका मारकर हँस उठे । सिपाही ने उस सरकारी क्लर्क को धता बताकर आखिर अपने लिए जगह बना ही ली ।

मैं अभी तक व्यास महर्षि के समान दोनों हाथ ऊपर किये खड़ा ही था । मेरी बात कोई सुनेगा, ऐसी उम्मीद भी नहीं थी । तथापि मुझे उस स्थिति

में देखने वाले अनेक थे, और प्रसिद्धि तथा नेतागिरी का जो फ़ायदा होना चाहिए सो हुआ ।

रहा मारवाड़ी ही !

पूना में मेरे साथ कांग्रेस में काम करने वाले एक सज्जन गाड़ी में बैठे हुए थे । उनका रोजगार व्यापार था । अतः उनका विश्वास था कि स्वराज्य की अपेक्षा सम्पत्ति श्रेष्ठ है । डिब्बे के एक कोने में मुझे पहचानने वाले एक और सज्जन बैठे हुए थे । उन्होंने नाम लेकर मुझे पुकारा तथा अधिकार की हुई खूब खुली जगह मुझे बैठने के लिए दे दी । हम तीनों के बैठते ही युद्ध तथा आन्दोलन सम्बन्धी चर्चायें छिड़ गईं ।

इसी बीच डिब्बे में बैठे हुए एक मारवाड़ी सज्जन की 'रोमांच-कथा' सुनने का मौका हाथ लगा । उसके पास टिकट नहीं था, इस कारण टिकट चैकर कुर्छवाड़ी तक का दुगना किराया मांग रहा था । मारवाड़ी सज्जन का कहना था कि 'हम दो भाई, एक बम्बई को तथा दूसरा कुर्छवाड़ी को जाने के इरादे से चले । इड़बड़ी में टिकट बदल गये । मेरे पास तो बम्बई का टिकट आ गया और मेरे भाई के पास कुर्छवाड़ी का टिकट चला गया ।' टिकट उसने लिया था । बम्बई का टिकट उसके दायन की सत्यता को प्रमाणित कर रहा था । उसके पास पूरे पैस नहीं थे । जितने थे उतने देने के लिए वह तैयार था । उसका जाना बहुत ज़रूरी था । उसे धमकी दी गई कि दौंड तक के पूरे पैसे न दिये तो पुलिस के हाथ में उसे सौंप दिया जायगा । मारवाड़ी सज्जन ने स्थिति को पहचानते हुए कहा कि कुर्छवाड़ी पहुंचते ही मैं पैसे दे दूंगा । मैंने बीच-बचाव करने का यत्न किया । पर न्याय और क़ानून के अन्तर का ज्ञान टिकट-चैकर की बुद्धि से परे की बात थी । और मेरे मध्यस्थ बनने का इनाम मारवाड़ी सज्जन ने कम पड़ने वाले पैसों को मुझी से मांग कर दिया ।

मैंने तत्काल वे पैसे दे दिये। उन सज्जन का नाम और पता भी मैंने नहीं पूछा। जब डिकसाल स्टेशन पर मैं उतरा, उस समय भी नहीं पूछा। मैंने सोचा, जिसको देना होगा वह तो देगा ही, जिसे नहीं देना वह नाम और पता पूछने पर भी नहीं देगा। 'अपने पास की सम्पत्ति तो एक धरोहरमात्र है।' महात्मा गांधी के इस सिद्धांत पर आचरण करने का अवसर मिलने के कारण मैं कदाचित् उसी के आनन्द में निमग्न था।

यह बताने से मुझे आनन्द होता है कि उक्त घटना के तीन सप्ताह बाद वह रकम मनीआर्डर द्वारा मुझे मिल गई। तथापि घर की कोषाध्यक्ष इस घटना को सुनकर मेरे इस कृत्य को 'भोलापन' बताये बगैर न रह सकी।

म्युनिसिपैलिटी की 'सुव्यवस्था'

डिकसाल स्टेशन पर एक ही दिया था और वह भी प्रकाश पहुंचाने के स्थान पर चारों ओर फैले अन्धकार को ही अधिक स्पष्ट कर रहा था। प्लेटफार्म पर इन्तज़ाम के वास्ते भेजा हुआ स्वयंसेवक उपस्थित था। रात के ३ बज गये थे। अकलूज की मोटर के छूटने में अभी तीन घण्टे शेष थे। स्टेशन मास्टर से पूछने पर पता चला कि दूसरे दर्जे के मुसाफिरों के ठहरने के लिए कोई इन्तज़ाम नहीं है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने में अंधेरे में अनेक लोग सोये पड़े थे।

स्टेशन मास्टर ने आग्रहपूर्वक निवेदन किया कि स्टेशन की बेंच पर ही मैं बची-खुची रात गुजारूं पर स्वयंसेवक ने बताया कि मोटर स्टैंड के समीप इन्तज़ाम अच्छा है अतएव हम दोनों स्टेशन की सीमा से बाहर स्टैंड के पास आये।

चांदनी में मन की दौड़

कड़ाके की सर्दी थी। आकाश में शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा सर्दी को

और भी बढ़ा रहा था। आस-पास की फौजी लारियां हाथी के समान लग रही थीं। रास्ते की बगल में जो खुली जगह थी, वही मोटर स्टैंड था। स्वयंसेवक इस भरोसे में था कि बची-खुची रात मोटर में ही आराम से बिताई जा सकेगी, पर हमारे साथ के अन्य अनेक भी इसी भरोसे पर मोटर की ओर आ रहे थे। ऐसी हालत में मैंने यही निश्चय किया कि मोटर में बैठने की अपेक्षा बाहर चांदनी में ही रात बिताई जाय। किम्बहुना, यह कहना अधिक उचित होगा कि, मुझे वैसा निश्चय करने के लिए विवश होना पड़ा।

कुछ ही फासले पर एक प्रख्यात पूंजीपति का गेस्ट-हाउस भी था और वहां मैं गया होता तो ठहरने का सुरक्षित इन्तज़ाम भी हो गया होता, पर ऐसी सुविधा के सामने अभिमान झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। फलतः बची-खुची रात अक्षरशः धूल में बितानी पड़ी।

मेरे सहयात्रियों ने धूल में अपनी कमलियां बिछाना शुरू कर दिया। और मुझे क्या करना चाहिए, इसका मैं अभी विचार ही कर रहा था। नींद बुरी तरह सता रही थी; पर धूल में बिछौना डालने के लिए मन तैयार नहीं हो रहा था। समय-असमय, स्वर-अस्वर में मातृभूमि के गीत गाने वाला मैं, आज अपनी मातृ-भूमि के अंक में लेटने के लिए तैयार न था !

मैं खड़ा-खड़ा सोचने लगा, मेरे पड़ोस में कमली पर लेटते ही नींद— गहरी नींद -- का आस्वादन करने वाले लोगों के मन में भी क्या मेरे जैसे ही विचार आये थे ? और यदि नहीं आये तो क्यों नहीं आये ? जिनके श्रम पर सारा जगत पल रहा है, उनके हिस्से में सुख का एक छोटा-सा अंश भी न आये ! यात्रा की सारी सुख-सुविधाओं के साधन कतिपय विनिश्चित (खास) लोगों ही के लिए हैं क्या ? और इसी के साथ, इतनी तीव्र विषमता होते हुए भी उसकी शानानुभूति बहुजनसमाज में क्यों नहीं

होती ? एक आदमी मर-मरकर मेहनत करे और दूसरा उसका आनन्द लूटे, यह कहाँ का न्याय है ? जिस समाज-व्यवस्था में इस अन्याय को स्थान है, वह क्यों बनी रहे ? मेरी आंखों के सामने उन खेतिहरों के स्मृति-चित्र आ खड़े हुए जो कहा करते थे, “दादा, हमारे दैव ही में कष्ट लिखा है ।” सामाजिक अन्याय को दैव का हवाला देकर सम्पत्ति-शाली और संचयवादी वर्ग ने अपना काम साधने का यत्न किया है ।

इस प्रकार धूल में बैठे हुए मेरी विचार-मालिका चालू थी, इसी समय पास के होटल से आवाज़ आई, ‘चाय किसे चाहिए ?’ और मैं उस स्थान पर चला गया ।

इस प्रदेश में चीनी के कारखाने हैं, पर सामने आई गुड़ की ही चाय ! ठीक है जहाँ चीज़ उगती या बनती है वहाँ बिकती नहीं । इस सिद्धांत की प्रतीति एक अन्य ही रूप में हुई । ६ बज गये थे और मोटर के चलने का समय भी हो आया था, अतः हम मोटर में जा बैठे । मोटर एजेंट ने अपने रोज़ के नियम से अनाप-शनाप बातें बोलते हुए भेड़ों की तरह यात्रियों को ठूसना शुरू किया । बेचारे ग़रीब यात्री चुपचाप सुनते न तो क्या करते, उन्हें अपने स्थानों पर जाने की जल्दी जा थी ! पर मुझसे उसकी यह बकवास न सुनी गई । मैंने उस एजेंट से कह दिया कि यदि तूने अब और ज़्यादा यात्री इसमें बैठाये तो मैं मोटर को यहाँ से नहीं हिलने दूँगा ।

उसने जवाब दिया, ‘ऐसे खादी टापी वाले मैंने बहुत देखे हैं ।’

‘पर मुझ जैसा तुझे नहीं दीखा होगा । एक तो सारी रात तूने इन लोगों को धूल में बैठाये रखा, उनके लिए कोई इंतज़ाम नहीं किया और अब कायदे और वानून के खिलाफ़ काम करता है; मैं यह सब नहीं चलने दूँगा ।’

मेरे ऐसा कहते ही यात्रियों का स्वाभिमान जाग उठा और वे मेरा पक्ष लेकर उसका विरोध करने लगे। अन्त में मोटर ड्राइवर ने जब अन्दर की बत्ती जलाकर मुझे गौर से देखा तब चुपके से एजेंट के कान में जाकर कुछ कहा और मोटर चालू करदी।

धूल में सुवर्ण रज

अंधेरा शनैः-शनैः नास्तिप्रायः हो रहा था; सूर्य शनैः-शनैः ऊपर आ रहा था। उसे देखकर मेरे मन में विचार आया, यदि इसी तरह जनता के अज्ञानरूपी अंधेरे का नाश हो जाय तो उन्नति का सूर्योदय हुए बिना नहीं रहेगा। धूल में यदि तीन घंटे तक मैं न बैठा होता, स्टेशन मास्टर के कहने के मुताबिक स्टेशन की बैंच पर सोकर मैंने वह रात गुज़ारी होती, तो जो सुन्दर विचार मेरे मस्तिष्क में आये वे न आये होते। इस धूल में सचमुच ही मुझे स्वर्ण-रज की प्राप्ति हुई और यह मातृभूमि सचमुच ही स्वर्ण की खान है।

क्या यही अवंतिकापुरी है ?

ठीक २४ वर्ष के पश्चात् मैं इन्दौर को जा रहा था। दिल्ली और शिमले की ओर जाते समय अनेक बार रतलाम होकर जाने का मौका आता था, उस समय अनेक बार मन में आता था कि फिर से इंदौर और नीमच आदि स्थानों के दर्शन करके अपनी पुरानी स्मृतियों को जागरित करूं, पर वह सम्भव न हो पाता था। एक ओर इस बात का डर था कि दिल्ली में यदि ठीक समय पर नहीं पहुंचा तो हर्ज होगा, और दूसरी ओर इस बात का अभिमान था कि पूना में अपने सिवाय और दूसरा है ही कौन ?

पहिये के ऊपर बैठी हुई मक्खी को यह लगता है कि पहिया उसी के बल पर फिर रहा है। मेरा यह अभिमान भी इसी प्रकार का था। तथापि इतनी बात सही है कि १९२० के बाद अर्थात् हमारे ब्रह्मचारी संघ के आखिरी सभासद् की 'विकेट' पड़ने के पश्चात् मैं इस प्रदेश में नहीं गया। यों हिन्दुस्तान मेरा मातृदेश है, तथापि मेरा प्रत्यक्ष जन्म मेवाड़ और मालवा की सीमा बनी हुई चंबल नद के तट पर मल्हारगढ़ नामक स्थान

पर हुआ था। अतः इस प्रदेश के साथ मेरी ममता है। इस प्रदेश के प्रति विद्यमान आत्मीयता भले ही किसी की दृष्टि में संकुचित हो, पर मेरे लिए इसकी सार्थकता है।

मालवा भारतवर्ष का धान्यागार समझा जाता है और मेवाड़ वीरप्रसू भूमि है। ऐसे स्थान के प्रति भला आत्मीयता, ममता एवं गौरवानुभूति क्यों न हो ? चंबल नदी के समीप एक बारी है और उस बारी में से होकर ही मेवाड़ में जाना होता है। इस प्रदेश में “दक्खन की कमाई और हरकिया में गमाई” ऐसी कहावत मशहूर है। इस हरकिया की बारी में से दक्षिण में जाकर खूब पैसा कमाने वाले मारवाड़ी मारवाड़ की ओर लौटा करते थे और उस समय अधिकांश मारवाड़ी लुटेरों के शिकार बन जाते थे। वह ज़माना अब बदल गया है। तथापि यह ऐतिहासिक परंपरा सम्पूर्णतया नष्ट हो गई हो, ऐसा सरकारी रिपोर्ट पढ़ने से नहीं मालूम पड़ता।

हमारे पूने के (पुनाहरे) के संकेत !

इसी हरकिया की बारी से दो मील की दूरी पर विद्यमान मल्हारगढ़ नामक गांव में अस्मदादिक का (हमारा) जन्म हुआ था; अतः तद्देशीय लोक-कथाओं के विषय में अभिरुचि थी—आज भी वह विद्यमान है। मैंने उस प्रकार का कोई पराक्रम नहीं किया था। गम्बारों की बाड़ी के रहने वाले सारे जेबकतरे नहीं होते। उसी प्रकार पूना के सभी नागरिक नीति-विचक्षण नहीं होते। तथापि किसी स्थान के प्रति ममत्व, उसकी भलाई और बुराई दोनों ही बातों के बारे में रहे तो उसमें कौन बुराई है ? यों तो दक्षिण की कमाई को बारी में लूटने के बजाय दक्षिण की ओर से मैं जो कमाई लेकर आया था वह मेरे बाल-मित्रों के लिए गौरव करने की ही वस्तु थी।

हां, मैं कोई एकदम सामान्य यात्री के रूप में नहीं जा रहा था। मध्य भारत विद्यार्थी-परिपद् के एक मनोनीत अध्यक्ष के रूप में जा रहा था और मैं दक्षिण से जो कमाई करके लाया था वह ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे लूटा जा सके। फिर वह कमाई भी लोगों के समझने पर थी। कोई चाहे तो उसे कमाई समझ सकता था। न चाहे तो नहीं। इसलिए उस कमाई के बारे में कोई विशेष आस्था अथवा आत्मीयता भी नहीं थी।

पूना से चलते समय मैंने अपनी जन्म-भूमि के दर्शन करने का निश्चय कर लिया था। गाड़ियों की असुविधाओं के कारण तथा टिकटों की अड़चनों के कारण एक दिन पहिले ही मैं बम्बई से चल पड़ा था। रतलाम में एक दिन रहने के विचार से उतरा। मैं चाहता तो तत्काल इन्दौर जा सकता था। पर अध्यक्ष को निर्धारित समय से कुछ देरी करके ही पहुंचना चाहिए, ऐसा पुण्य पत्तनीय संकेत है और वह सदा ठीक ही बैठता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास था। इसलिये मैं नहीं गया। और सच्ची बात तो यह है कि यदि मैं २४ घंटे पहले ही पहुंच गया होता तो परिपद् के संचालकों का रस-भंग हो गया होता और स्टेशन पर उन्हें मुझे ढूँढना पड़ता। अतः मैंने रतलाम स्टेशन पर ही ये २४ घंटे गुजारने की सोची। परिपद् के लिए जो भाषण लिखना था उसका सारांश मैंने सेकण्ड क्लास के वेटिंग रूम में बैठकर लिखा और बम्बई भेज दिया। बाकी समय कैसे गुजारा जाय, यह मैं सोचने लगा।

इस बीच एक फ्रौजी स्पेशलगाड़ी आई और पुलिस वालों ने हलके हाथों से प्लेटफार्म पर ठहरे हुए यात्रियों को स्टेशन से बाहर खदेड़ना शुरू किया। हमेशा की आदत से लाचार होकर मैंने इस मामले में भी अपनी चौंच लड़ाई। स्टेशन-मास्टर तक जाने की नौबत आई। उसने पुलिस

वालों को पास बुलाया और उन्हें तार्काद का कि वे ज़रा अधिक सभ्यता से पेश आया करें ।

‘शारदा मंदिर’ में प्रवेश

रलगाढ़ा का टाइम-टेबल देखने से पता चला कि हरकिया का बारी देखकर समय पर वापस आना सम्भव नहीं । अतः मैंने सोचा, चलो रतलाम गाँव में एक चक्कर मार आयें । कुछ ही फासले पर एक इमारत नजर आई, जिस पर ‘महाराष्ट्र शारदा मंदिर’ का बोर्ड लगा हुआ था । उस इमारत में उस वक्त कोई भी नहीं था । आस-पास भी कोई दिखाई नहीं दिया । गाँव में पहुँच कर कुछ आदमियों से मुलाकात की । देशी राज्यों में होने वाले अत्याचारों की कथा सुनी । महाराष्ट्र शारदा मंदिर के सम्बन्ध में मन में जो एक कौतूहल पैदा हो गया था, वह मुझे चैन नहीं लेने दे रहा था । अतः लौटते समय इस मंदिर के दरवाजे के सामने मैं एक घंटे तक खड़ा रहा । अन्त में मेरी यह साधना फल लाई । पास ही में रहने वाले एक दक्षिणा (महाराष्ट्रीय) छोटे बच्चे ने बताया कि बृहस्पति-वार को ६ बजे यहाँ भजन-कीर्तन होता है; आज गुरुवार है; अतः यदि आप आज आये तो अच्छा होगा । बचा-खुचा नौ बजे तक का वक्त शहर में इधर-उधर फिरने में, दही-बड़े खाने में बिताया । नौ बजे फिर शारदा-मंदिर पहुँचा । लगभग १० बजे एक आदमी ने दरवाजा खोला । बिजली जलाई और उस प्रकाश में मैंने इस मंदिर का स्वरूप देखा । सब कहीं धूल ! एक टूटी-फूटी अलमारी में कुछ पुस्तकें दिखाई दी । एक और हारमोनियम, तबला और करताल पड़े दिखाई दिये । दो आदमी और आये । हम तीनों ने मिलकर मंदिर की सफाई की । मतलब, इधर को धूल उधर कर दी । दरियाँ आदि बिछाईं । तीन और आदमी आये । प्रायः सब रेलवे में नौकर थे । मैंने अपना नाम तो नहीं बताया पर इतना बताया

कि मैं पूना की तरफ़ का हूँ। एक ने अगल-बगल में धीमे से गांधी जी के बारे में सवाल किया दूसरे ने बहुत ही धीमी आवाज में पूना के कुछ व्यक्तियों के बारे में पूछा। उन व्यक्तियों में से एक मैं भी था। पर मैंने कुछ भी पता नहीं चलने दिया। भजन के कार्यक्रम के बारे में मैं उत्कंठित था। ११ बजे भजन शुरू हुआ। एक प्रौढ़ व्यक्ति ने एकदंता, वक्रतुंडा, बुद्धिच्या नायका, गाना—हाँ, उसे गाना ही कहना पड़ेगा—शुरू किया वह पहले बोलता और सब उसके पीछे बोलते। यही चलता रहा। दूसरा कोई भजन शुरू होगा ऐसा प्रतीत नहीं हुआ और इस सुरीले भजन को और अधिक देर तक सुनने के लिये आवश्यक धैर्य मुझमें बच नहीं रहा था। १२ बज गये थे। अतः अपना यह शारदा-मंदिर का अंक समाप्त करके मैं लौट आया। प्रतिदिन यह कार्यक्रम नहीं चलता, इस कारण शारदा अवश्य ही इन लोगों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती होगी। नांद में भी इस वक्रतुंड ने मुझे चैन नहीं लेने दी। गाड़ी से बाहर भी अहोरात्र जागरण करना पड़ा और उसका पूरा पुण्य भी मेरे हाथ नहीं लगा।

आखिरकार जात पर ही आये

प्रभात होते ही इन्दौर की गाड़ी में जा बैठा। मेरे स्वागत के लिए आये हुए कुछ विद्यार्थी मित्र भी वहाँ मिले। हांडी में तैयार की हुई चाय पीते हुए, वास्तविक ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन देते हुए, इन्दौर की परिस्थिति की जानकारी प्राप्त करता जा रहा था। ठीक समय इन्दौर पहुँचा। तीन दिन का मुकाम रहा। वहाँ का अनुभव स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र आने ही वाला है; अतः यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं। इन्दौर में रहते समय उज्जयिनी के कार्य-कर्त्ताओं की ओर से भी आमंत्रण आया। फलस्वरूप मैं उज्जयिनी के लिए चल पड़ा। मेरे साथ कुछ विद्यार्थी कार्यकर्त्ता भी थे। ३० वगैरे के पश्चात् मैं उज्जयिनी की ओर

जा रहा था। पहले-पहल मैं अपने एक सम्बन्धी के साथ यहां आया था; उस समय मैं आठ या नौ बरस का रहा हूँगा। उस समय की याद सिर्फ कढ़ाके के जाड़े की ही रह गई है। दूसरी बार जब मैं गया तब मैं १६ बरस का था; उन दिनों मैं कालेज में पढ़ता था। उस समय मेरे साथ एक सरकारी अफसर थे। उस दफा स्टेशन पर उतरते ही बाहर के एक होटल में हम गये और खाने के इंतज़ाम के बारे में पूछा। होटल वाले ने हमारी वेषभूषा से पहचाना कि हम दक्षिणी हैं और हमारा 'आइनांव' (सरनेम) पूछा। वह बताने पर 'कौकणस्थ ब्राह्मण' कहकर थोड़ा पीछे की ओर। मेरे साथ के मेहमान का भी नाम पूछा और वे भी कौकणस्थ ही हैं यह जानकर वह और भी विचलित हुआ। उसने हमें खाना तो खिलाया पर हमारी पत्तलें औरों से ज़रा दूर-दूर ही रखीं। मगर हमारे दिये पैसों को उसने अस्वीकार नहीं किया। किसे मालूम उसने हमसे पैसे भी ज़्यादा ही वसूल किये हों।

उत्तर हिन्दुस्तान में और विशेषतः चित्तौड़-भेलसा के भाग में दक्षिणी लोगो से वहां वाले बहुत चिढ़ते हैं। मराठो ने राजपूतों पर बड़ा अत्याचार किया ऐसा कहते हैं। 'हिन्दुस्तान में तीन कसाई, पिस्सु, खटमल और दक्खिनी भाई' वहां की यह प्रचलित कहावत कदाचित् इसी बात की साक्षी है। तथापि दक्षिणी मनुष्य दक्षिणी मनुष्य का और वह भी परदेश में इस प्रकार उपमर्द करे, यह थोड़ा खेदजनक है। उस उम्र में मैं यह समझ नहीं पाया कि ऐसा क्यों होता है? आज भी यह क्षुद्र-बुद्धि कम नहीं हो पायी है। इतनी शिक्षा और इतनी प्रगति के पश्चात् भी यह भाव कम नहीं हुआ, क्यों नहीं हुआ यह समझ में नहीं आता।

दान के दिन लड़ गये

ऐसा बताते हैं कि उज्जयिनी के वास्ते राजपूतों में तथा बाजीराव

प्रथम में घमासान लड़ाई हुई। क्षिप्रा नदी, जिसके किनारे उज्जैन बसा हुआ है, खून से लाल हो गई। हिन्दू-हिन्दू में चलने वाली इस लड़ाई के खत्म होने के आसार नज़र नहीं आते थे। राजपूत लोग कहते थे 'हम रणांगण में मर मिटेंगे पर पीछे हटेंगे नहीं'। मराठे लोग कहते थे, 'अपना मातृ देश छोड़कर हम इतने दूर आये हैं सो अपयश (असफलता) प्राप्त करने के लिए नहीं; प्रत्युत जीतने के लिए आये हैं।' दोनों दल कहते थे 'या जीतेंगे या रणांगण में ही खत्म हो जायेंगे।' अन्त में एक चतुर ब्राह्मण ने राजपूत राजा से कहा कि, 'तुम यदि उज्जयिनी दान में दे दो तो यह दक्षिणी ब्राह्मण उसे लेने के लिए तैयार हो जायगा।' और उस ब्राह्मण ने बाजीराव से भी पूछा कि 'आपको लड़कर ही उज्जयिनी को लेना है ऐसी तो कोई बात नहीं है न ? यदि उज्जयिनी आपको दान में मिल जाय तो !' इस पर बाजीराव ने कहा, "दान लेना तो हमारा प्रथम धर्म है।" इस पर क्षिप्रा में खड़े होकर पानी की अंजलि बाजीराव के हाथ पर डालकर राजपूत राजा ने यह सिद्ध कर दिया कि शौर्य पर ओदार्य द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। और बाजीराव ने यह सिद्ध करके कि 'धर्म वस्तुतः व्यवहार है' अपने को 'साधनानामनेकता' इस तत्व का आद्य प्रतिपादिक सिद्ध किया। यह पुरातन राजकारण (राजनीति) आज के जगत् में कितना दुर्लभ हो गया है ! आज भूला-भटकी बकरियों को भी कोई खंडोबा (मराठो का देव) पर बलि चढ़ाने के लिए तैयार नहीं, तब हाथ में आई हुई सत्ता किंवा सम्पत्ति को दान में दे डालने की बात तो दूर रही।

वैद्यराज और भाजी वाली

उज्जयिनी शहर मराठो के हाथ में किस प्रकार आया इसका उपरि-वर्णित इतिहास मैं अपने सह्यात्री विद्यार्थी कार्यकर्त्ताओं को बता रहा था,

इस बीच हमारी रेलगाड़ी क्षिप्रा स्टेशन के समीप आयी। जिस क्षिप्रा नदी का वर्णन कालिदास ने अपने काव्य में किया है, उस भाग्यशालिनी नदी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करके बड़ी प्रसन्नता हुई। क्षिप्रा की तरंगों का सहवास प्राप्त करके आने वाला 'अनिल' सर्दी के दिन होने के कारण आनन्द प्रदान करने के स्थान पर थोड़ा त्रास देने वाला ही सिद्ध हुआ। थोड़ी ही दूर में हमारी गाड़ी उज्जैन स्टेशन में प्रविष्ट हुई। कांग्रेस तथा महात्मा गांधी के जयकारों से हमारा स्वागत हुआ। न तो किसी ने हमारा नाम पूछा न कोई बिदक कर पीछे को ही हटा। सारे स्टेशन पर खादी टोपी वालों का अपार समुदाय एकत्र था। फूलों के एवं सूत के बने हारों की गणना करने की 'सावरकरी' आदत नहीं थी, अतः मैंने उन्हें गिना नहीं। तथापि नेतागिरी का यह बोझ कुछ कम भारी नहीं था। मेरी हिन्दी में बातचीत को सुनकर अनेक को आनन्द हुआ और कुछ अचरज भी हुआ ! कालिदास की इस नगरी में संस्कृत भले ही चालू न हो, तो भी संस्कृतमय हिन्दी यहां का चालू सिक्का है। निःसंशय यह ऊपर के दर्जे के लोगों में ही है। ऐसी हिन्दी सब्जीमंडी की भाजी वाली के साथ बातचीत करनी हो तो किस उपयोग में आयेगी ?

ऐसा कहते हैं कि पूना के एक प्रख्यात वैद्यराज कुछ वर्ष पूर्व उज्जयिनी में आये थे, उन्होंने एक जगह भाजी की ओर अङ्गुली का संकेत करते हुए एक कुंजड़िन से पूछा, “इस वस्तु जात का क्या मूल्य है ?” पर उस कुंजड़िन को इस वाक्य का अर्थ ही अवगत नहीं हुआ। यह देखकर वैद्यराज को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। ‘बाधति बाधते’ की बातें सुनने वाले शास्त्री बाबा की कल्पना कदाचित् ऐसी रही हो कि इस अवन्तिकापुरी में सामान्य ललनाएं भी अत्यधिक संस्कृत-पटु होती हैं।

क्या यही उज्जैन है ?

दो दिन के मुकाम में संवत्सरकर्ता विक्रमादित्य की राजधानी में अनेक दृश्य देखे और अनेक अनुभव प्राप्त किये। भर्तृहरि को 'शतकत्रय' लिखने की प्रेरणा करने वाले इस नगर में आज ऐसा कुछ भी नहीं रह गया था, जिससे किसी को कोई प्रेरणा मिल सके। कहीं भी नवरत्न सभा दृष्टिगत नहीं हुई। इसके विपरीत सर्वत्र 'शांभवी' के ही अड्डे दिखाई दिये। कालिदास के नाम से शालाग्रह तथा विद्यालयों के दीखने के स्थान पर उपाहार-ग्रह और नापित-ग्रह ही देखने का प्रसंग आया। पूना में भी शिवाजी, लोकमान्य, गांधी आदि के नाम ऐसी ही दूकानों से संलग्न नज़र आते हैं न ! कदाचित् लोकतंत्र और समताभाव का यह प्रमाण होगा। इतिहास में अमरपद प्राप्त करने वाली इन वस्तुओं का अमरपद क्यों प्राप्त हुआ इसका कारण पार्थिव दृष्टि से दिखाया जा सकने वाला बच नहीं रह गया है। इस नगर का देव 'श्री महाकाल' कितने ही शतकों से भूमिगत (अंडरग्राउंड) हो गया है। विक्रम सिर्फ संवत्सर ही में रह गया है, वैभव सिर्फ स्मृति में। 'आहे सांप्रत उज्जनी नगर तैं राज्यांत शिद्यांचिया'। पर वहां भी वैभव अथवा आधुनिकता नहीं है।

चैतन्य लाभ

दो दिनों के मुकाम में भिन्न-भिन्न पांच-छः जगहों पर चर्चा और व्याख्यान हुए। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह सब हिन्दी ही में हुआ। कुछ अभिसीमित और कुछ सार्वजनिक भाषण हुए। पर इस सर्व मुकाम में अवन्तिका के प्राचीन वैभव और अद्यतन दैन्य के मध्य विद्यमान अन्तर के कारण कुछ खिन्नता की छाया ही की पृष्ठभूमिका रही। उस खिन्नता में विभिन्न कार्यकर्तागण अड़ौस-पड़ौस के संस्थानिकों (नरेशों) के अत्याचारों की कथाएं सुनाकर और वृद्धि ही करते जा रहे थे। बगैर

किसी पूछ-ताछ के लोगों की गिरफ्तारी, स्त्रियों पर अत्याचार, गरीबी, अविद्या, जनता का शोषण, पश्चात्पद भिल्ल लोगों के साथ अमानुष व्यवहार, आदि विषयक वृत्तान्त कथाओं को सुनते सुनते चित्त विषण्ण सा एवं शून्यप्राय सा हो उठता था। उसी प्रकार प्रचलित राजनीति में भाग लेने वाले कार्यकर्ताओं के बीच विद्यमान विरोध भी चित्त को दुःख देता था। कोई कामरेड आये और आकर शिकायत करने लगे कि ये कांग्रेस वाले पूंजीपतियों की वकालत करते हैं। कांग्रेस वाले इसका उत्तर यों देते कि ये कामरेड जिनकी तरफदारी कर रहे हैं वे सारे खेतिहर उनके पिताओं के देनदार हैं।

इसी चाल पर ये सारे कार्यकर्ता मौजूदा राजनीति को चला रहे थे। इस मौजूदा हालत से ऊपर उठकर यह देश फिर कब 'भय' को प्राप्त करेगा और जगत् के लिए ललामभूत विद्वान कब पैदा होंगे ! फिर कब संवत्सरकर्ता विक्रम का निर्माण होगा ! पराक्रम को महाकाव्य द्वारा चिर-स्थायी करने वाला महाकवि कब आयगा ! शौर्य एवं शृंगार इन दोनों रसों का सुन्दर सामंजस्य समाज में एवं काव्य में कब देखने को मिलेगा ! इसी प्रकार के अनेक विचार देर तक मन में आते रहे। विदा लेने से पहले 'पुरुषस्य भाग्यम्' नामक लोक-कथा में न्याय देने वाले महाकाल के दर्शनो के लिए गया एवं श्रद्धाकुत अन्तःकरण से प्रार्थना की, "भूमि पर का अन्याय असह्य हो गया है। प्रकट हो और जो हमारा है वह हमें मिलने दे।" अन्तःकरण में मिलने की आशा अनुभव होने लगी। और इस प्रकार अवन्तिका का आना सार्थक हो गया। सच्चा चैतन्य पाकर मैंने अवन्तिका से विदा ली।

कांग्रेस का राज्य आया तो—

उस दिन कोई कार्यक्रम नहीं था। न कहीं व्याख्यान, न कोई अंगीपचारिक चर्चा—कोई भी तो बात ऐसी नहीं थी, जहाँ मेरे उपस्थित रहने से किसी की शोभा में कुछ वृद्धि हो। कहीं कोई उद्घाटन का कार्यक्रम नहीं था, या ऐसी भी बात नहीं थी कि किसी पत्र-प्रतिनिधि को ज़बर्दस्ती बुलाकर और चाय पिलाकर उसे मुलाकात दी जाय या किसी महत्वशाली व्यक्ति से मिला जाय।

उस दिन मेरे लिए कोई 'कार्य' नहीं था। इतना ही क्यों, किसी को साथ लेकर बोलपट (सिनेमा) देखने भी नहीं जाना था। छुठे छुमाहे कभी एकाध दफा बोलपट देखने का मौका मिलता था और जोड़ी से सिनेमा देखने का मौका तो समझिये कपिलापट्टी का योग ही था। तत्पर्य उस दिन की सांझ किस प्रकार गुजारी जाय इस बात पर मैं विचार कर रहा था। हर रोज के मेरे जोड़ीदार भी आज मेरा साथ देने वाले नहीं थे, एतावता, आज मैंने नये पुल पर जाने का निश्चय किया !

हमारा मारुति वीरों का है

घूमने के लिए हाथ में लाठी लेकर बाहर निकला । मस्तिष्क में अन्य कोई विचार नहीं था; अतः स्वभावतः मेरा ध्यान पैरों के नीचे के रास्ते की ओर गया । रास्ते में ब्रिटिश-नीति-विचक्षणों के निवेदन की अपेक्षा भी अधिक गड़ढे दिखाई दिये । दोनों किनारों पर घर थे । इसी आधार पर इस बीच के भाग को रास्ता कहने के लिए विवश होना पड़ता था । कालांतर से मनुष्य की कीर्ति पर आने वाले धब्बे जिस प्रकार धुलकर साफ हो जाते हैं, उसी प्रकार उस रास्ते का तारकोल भी नास्तिकप्राय हो गया था । हमारे उस रास्ते पर चूंकि कोई 'माननीय' (आनरेबल) नहीं रहता था, अतः रास्ते की मरम्मत का शुभ मुहूर्त हमारे लिए उदित नहीं हो पाया था । यह भी सुनने में आता था कि मिलने वाला तारकोल सभासदों के कारखानों ही में खत्म हो जाता था । संसार का यात्रापथ विकट है । इसका यदि प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो हमारी गलियों के रास्ते देख लीजिए । रास्ते की अवस्था के कारण सरल चलने वाली स्त्रियों के पैर भी बालिदास के शब्दों में 'विषभी भवन्ति' की अवस्था में आ जाते थे । और जब मैं गुज़र रहा था उस समय 'कांग्रेस का मंत्रि-मंडल बन जाने पर भी तेरे हाथ का उस्तरा थोड़े ही छूट जायगा' ऐसी आवाज़ नामू की दूकान से आई । संभवतः किसी महानुभाव ने मुझे देखकर ही ऊंची आवाज़ में ये उद्गार व्यक्त किये थे । नामदेव का सैलून वास्तव में एक वाचनालय ही था । उसके धधे के ग्राहकों की अपेक्षा इसमें मुफ्त के पाठकों की ही संख्या बढ़ी-चढ़ी रहती है । (धीमे से कहता हूँ, कभी-कभी मैं भी ऐसों में शरीक हो जाता हूँ ।) उपर्युक्त वाक्य मैंने सुना, पर वहां न ठहरते हुए मैं चुपचाप यहाँ से आगे हो लिया और अपने 'वीरों के मारुति' के पास आया । पाठकों को मैं रहस्य की बात

बताऊं ? हमारा यह मारुति वीरों का है और गत ५० वर्षों में उसने अपनी यथार्थता साबित की है ।

भैसे और मोटरें

कुछ क्षण मन में विचार आया कि पहले के निश्चय को बदलकर श्मशान में से होते हुए नदी के परले पार निकल जाऊं । पर फिर विचार किया कि नये पुल पर जाकर टहल आने के विचार को तिलांजलि देना ठीक न होगा । सामने की ओर चलने लगा । दूटे बुर्ज की ओर देखकर किनारे-किनारे से मैं चल रहा था; क्योंकि बीच में से होकर निकलने की सुविधा ही नहीं है इस रास्ते पर । सवेरे भैंसों का, दोपहर को मास्टरनियों का और सांभू को मोटरों का तांता ही इस रास्ते पर बंधा रहता है ! इस अग्निपरीक्षा में से निष्कलंक उत्तीर्ण हो जाना एक बड़े भाग्य की बात है । मैं रास्ते के किनारे पर चल रहा था । मेरा ध्यान किसी दूसरे की ओर भले ही न रहा हो पर दूसरों का ध्यान मेरी ओर नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता था । कारण, तत्काल दाईं ओर के एक मकान से 'अहो काका साहब !' ऐसी आवाज़ आई । भ्रमण में विघ्न उपस्थित हो गया ! मुझे उन सज्जन के घर जाना पड़ा ।

हमारे नाना

दरवाजे में से अन्दर घुसते ही उन सज्जन ने कहा, "परमेश्वर ने आज हमारी शिकायत सुन ली; मुझे कितनी खुशी हो रही है !" मैं अलबत्ता मन में अप्रसन्न था । उस अप्रसन्नता से ही मैं अन्दर गया । गर्मी के मौसम में भी ज़मीन गीली ही थी । हो सकता है, गर्मी से बचने के खयाल से मकान मालिक ने ही ऐसा इन्तज़ाम कर रखा हो । कमरे में एक मैली सी दरी पड़ी थी । उसपर एक तकिया था, पर वह ब्रह्म की भांति माया विरहित था अर्थात् उस पर गिलाफ नहीं था । दरी पर रंगीन

दास नज़र आ रहे थे। वह कितनी पुरानी थी यह बतलाना आसान नहीं था। तथापि आदरातिथ्य में नाना कुछ कम नहीं थे। उन्होंने मुझे दासने के लिए उस तकिये के पास बैठाया। ओख में आँसू भर कर बड़े करुणाकुल स्वर में नाना कहने लगे, “अजी, अब हमारी ओर देखिए न, अब हम लोगों के मरने की बारी है !” नाना हमारी पैंठ में एक होनहार व्यक्ति हैं। कोई भी व्यक्ति उन्हें काम के लिए बुलाये वह झटपट हाज़िर हो जायेगे। गणपति उत्सव हो, मारुति उत्सव हो, नाना काम करने के लिए सदा तत्पर रहेंगे।

नाना भिक्षुक-निर्विशेष गृहस्थ हैं। एक-दो दूकानों पर लिखापढ़ी का काम करते हैं तथा बाकी का चरितार्थ (उदर-निर्वाह) भिक्षुकी के द्वारा पूर्ण करते हैं। १९४२ से पहले तक उनकी हालत अच्छी थी, यह मुझे मालूम था; अतः उनकी इस करुणाकुलता का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

राशनिंग के कारण धर्म डूब गया

“अजी, आपके इस राशनिंग के कारण हमारा धर्म तो डूब ही गया; अब हमारे प्राणों के भी निकलने का वक्त आ रहा है !” नाना के इन शब्दों को सुनकर मैंने उनसे पूछा— “आप क्या कहना चाहते हैं ?” नाना व्याकुल हो कहने लगे, “छूटे-छुमाहे एकाध दफा गेहूँ खाने वाले हम लोगों को अब हर रोज गेहूँ-ही-गेहूँ खाना पड़ रहा है ! हर रोज कैसे खायें ? उसके लिए आवश्यक घी कहां से लायें ? अजी, बाजरे की तो अब याद ही रह गई है ! अहा ! रात के वक्त का थालीपीठ (एक खास महाराष्ट्रीय चीज) खत्म हो गया, मक्खन अदृश्य हो गया और जवारी का तो क्या कहना, उसकी तो सुगन्ध तक नहीं आती ! और चावल हफ्ते में आध सेर भी मिल जायें तो समझिए ढेर-के-ढेर मिल गये।

चित्राहुति (भोजन समय का संस्कार) तक नहीं डाल सकते । “आत्मानं सततं रक्षेत्” के न्याय से भात की चित्राहुतियाँ हमने बन्द कर दीं । अजी, धर्म डूब गया ! श्राद्धपक्ष में से पिंडदान उठ गया ! पितर कैसे संतुष्ट होंगे ! कहीं, युद्ध और देर तक चला तो क्या होगा ! अजी, यह पाप अब देखा नहीं जाता ! ये देखिए हमारे बच्चे ! ज्योंही उन्होंने यह कहा त्योंही लड़के-लड़कियों का एक मजमा कमरे में चला आया । छुटांक से लेकर पसेरी तक के जैसे क्रमवार बाट रहते हैं वैसी ही यह बालसेना दिखाई देती थी । संध्या के चौबीस नाम लगभग खत्म ही हो गये होंगे, और बंगाली नामों पर भी आक्रमण हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता था ।

चावलों के अभाव में

नाना की पत्नी को विवाह के समय दिया गया आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ नजर आता था । (महाराष्ट्र में वधू को ‘अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव’ यह आशीर्वाद देने की प्रथा है) ‘अजी काका, यह देखिए हम ब्राह्मणों के बच्चों की चावलों के अभाव में हुई दयनीय अवस्था ! सम्प्रति कहीं भी श्राद्धपक्ष-कालिक भोजन नहीं । लग्नकार्य (विवाह) में हाथ भीगता नहीं । “पशमासे पशमासे भवन्तो ब्रुवन्तो” की निष्फल बकवास करनी पड़ती है । देखिए, आपही देखिए, इन बच्चों की निकली हुई हड्डियाँ देखिए ।”

मैंने बच्चों की ओर देखा । साधारणतया नाना वा कहना सही था । एक बार मन में आया भी कि कहीं ढेर सारे बच्चों को पैदा ही क्यों किया ! पर यह सवाल मुझी पर उलट सकता था, अतः मैंने पूछा नहीं ।

मैंने उनसे कहा, “अजी, सरकार ने तो ऐसा छाप है कि मुख्यतया भात पर ही गुजारा करने वाले मनुष्य को हर रोज १० औंस चावल, ५ औंस धान, ३ औंस दाल, ८ औंस दूध, २ औंस फल और १० औंस

भाजी-तरकारी आवश्यक है।”

उन्होंने मुझसे पूछा, “औंस किसे कहते हैं, यह तो बताइए !”

मैंने कहा, “लूण-भर को मान लीजिए आधा लुआंक !”

इस पर वह बोले, “इसका एक चोथाई हिस्सा भी आने को नहीं मिलता ! भाजी तो नजर में ही नहीं आती। और एक रुपए का सेर दूध मैं कैसे लूँ ! काले बाज़ार में चावल मिलते हैं, पर पैसे कहां हैं ! पुनश्च, इस प्रकार के मुकदमे भी गरीबों पर ही होते हैं। आज यदि किसी को आराम है तो वह पैसे वालों को और पुलिस वालों को। उन्हें किसी भी बात की कमी नहीं है।”

मैंने कहा, ‘नाना, आपका कथन सर्वांशतः सत्य नहीं है। यदि पूना के लोगों को यह असत्य प्रतीत हुआ होता तो उन्होंने संगठित होकर प्रतिकार किया होता। बम्बई में अधिक ‘सीधा’ (राशन) मिलता है। अधिक चावल मिलते हैं। पूना ज़िले में आबि मोर (उम्दा चावल) पैदा होता है और पूना के हिस्से में घटिया चावल आता है। यह सब इसलिए चल रहा है, क्योंकि आप लोग इसे बर्दाश्त कर लेते हैं !”

“गलती है आपकी, आप कांग्रेस वालों ने सत्ता त्याग दी, उसके कारण हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है !” नाना बोले।

‘अजी, जब हम अधिकारारूढ़ थे तब हम धर्मध्वंसी हैं, मुसलमानों को सिर पर बैठा लेने वाले हैं, अधिकार से चिपके रहने वाले हैं, ऐसा आप लोगों के नेता और समाचार-पत्र ही कहा करते थे न ! और जिस दिन हमने अधिकार त्याग दिया उस दिन ‘मुक्ति-दिवस’ मनाने वालों में आप ही लोग तो थे ! और आज भी आप लोगों के ‘स्वातंत्र्यवीर’ अंग्रेज़ों का ही कारोबार अच्छा था, ऐसा कहते हैं न !”

“अजी काका, अब उन पुरानी बातों को जाने दीजिए। पेट-भर

अन्न नहीं मिलता, ठीक से कपड़े नहीं मिलते। हम जनता हैं न ! आपको स्वराज्य पाना है, उसके लिए जनता की आवश्यकता है या नहीं ? या कब्रिस्तान का स्वातंत्र्य आप चाहते हैं ? कुछ भी कीजिए, पर हमें जिंदा रखिए !”

बिलकुल ऐसे ही शब्द सन् ४३ के आखिर में नासिक जेल के अंदर वहां के एक सिपाही के मुंह से भी सुने थे। वहां राशनिंग अभी शुरू नहीं हुआ था। बाजार में गरीबों को अनाज नहीं मिलता था। रात को पहरे के वक्त हमारे कमरे के पास आकर वहां के पहरेदार हवालदार ने भी यही विचार प्रकट किये थे—“आप सब हम लोगों के लिए कष्ट-सहन करते हैं, यह सच है। आप राज्य हासिल कर लेंगे, यह भी सच है। पर उस राज्य में सजीव प्रजा तो होनी चाहिए न ! कुछ भी कीजिए हमें जीवित रखिए !”

उसके ये शब्द मनश्चक्षुओं के सामने आये। मैंने नाना से कहा, “आप जो कुछ कहते हैं वह सब सच है। पर यह संग्राम किस लिए आरम्भ हुआ है, यह आपको याद है न ? पैटनी (एक कीमती वस्त्र) की मांग करके अन्त में एक थिगरा लेकर संधि करलें क्या ? आप लोगों को धीरज रखना चाहिए। दुर्गतियों का हलाहल पीकर ही जनता स्वतंत्रता प्राप्त करेगी। यह सब अनेक को भोगना ही चाहिए। अन्य देशों में स्वातंत्र्य के लिए बड़े पैमाने पर प्राणार्पण करना पड़ रहा है, उसके मुकाबले में हम इतनी प्रचंड वस्तु के लिए क्या कीमत दे रहे हैं ? यदि आप जैसे शिक्षित व्यक्ति ही प्रतिगामी विचार रखने लग जायेंगे तो काम कैसे चलेगा ? अधपेट खाकर कैसे रहना चाहिए यह तो मालूम है न !”

“अजी, सबके लिए अधिकार लीजिए। हमें भी अधपेट मत रखिए, औरों को भी मत रखिए !” नाना ने कहा।

चावल तो मिलेंगे ?

नाना का विचार तक शुद्ध था । पर तर्क से आज तक किन प्रश्नों का समाधान हुआ है ? मैंने उनसे कहा, “मान लीजिए, कांग्रेस ने अधिकार ग्रहण कर लिया, तो उससे आपके विचार में ऐसी कौन सी क्रान्ति आपके ‘सीधे’ में उत्पन्न हो जायगी ?”

“निदान (कम-से-कम) एक पउआ-भर चावल तो ज्यादा मिलेंगे, इतना तो होगा न ?” नाना ने कहा ।

मैं उनके इस वाक्य को सुनते समय उनके नेत्रों की ओर देख रहा था । उनमें मूर्त्तिमान कारुण्य निवास कर रहा था । उनमें आशा भी प्रतिफलित हो रही थी । मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और चाय के आग्रह को भी अस्वीकार कर दिया ।

उस समय मेरे मस्तिष्क में दूसरे ही खयाल आ रहे थे । स्वातंत्र्य के लिए प्राणार्पण करने का उपदेश करने वाले, परकीय सत्ता की नौकरियों के पीछे पड़े हुए नवयुवक मेरी आंखों के सामने आ रहे थे । स्वातंत्र्य के लिए घर-द्वार पर अग्नि रखने के लिए कहने वाले, किरायेदारों का किराया अनेक गुना बढ़ाकर उनका शोषण करने वाले मुझे दीख रहे थे । ‘स्वदेशी वस्तुएं स्वराज्य का मूलमंत्र हैं’ कहकर हमारी भावनाओं का अवैध फायदा उठाकर नफेबाजी में करोड़ों रुपये पैदा करने वाले ‘त्यागी’ गांधी-भक्त मेरी आंखों से ओझल नहीं थे । सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्र के अप्रकाशित रहते समय, तारों के भी टिमटिमाने से पूर्व यदि जुगनू न चमके तो और कौन चमकेगा ? देश की स्वतन्त्रता के लिए छाती पर गोलियां भेलने वाले, सिर पर लाठी पड़ने के कारण लोहलुहान हुए देशभक्त भी मेरी आंखों के सामने आते थे । उसी समय बहती गंगा में हाथ पखारने वाले देशभक्ति का ज्योतिरिंगन की भांति प्रकाश फैलाकर

अपने आदर्श का व्यापार करने वाले लक्ष्मीपुत्र भी आंखों के सामने खड़े थे। इन सबसे मैं कुछ भी नहीं कह सकता था। अन्याय, घूसखोरी और पाप का साम्राज्य सर्वत्र फैला हुआ देखकर महात्माजी उपवास करने की सोच रहे थे। समाजांतर्गत यच्चयावत् वर्णों में नैतिक अधःपतन हुआ दृष्टिगत होता था। ऐसी स्थिति में एक गरीब ब्राह्मण द्वारा अधिक चावलों के लिए अधिकार स्वीकार करने का आग्रह किये जाने में जो एक विडंबना छिपी हुई थी वह 'क्षमस्व' कहने योग्य ही थी। उत्कट से लेकर उच्छिष्ट पर्यन्त सब की यही गति थी। वह आदर्श के अनुरूप नहीं थी यह भी सत्य है। पर उसमें कुछ ऐसी सचाई अवश्य थी जिसे मंजूर किये बगैर नहीं रहा जा सकता था। 'जीना है या मरना है?' इस सवाल का उसमें उत्तर छिपा हुआ था। कुछ लोग कहेंगे कि ऐसे आदर्श-शून्य जीवन की अपेक्षा मर जाना अच्छा और कुछ लोग कहेंगे कि आदर्शों का अस्तित्व जीवित मनुष्यों के ही लिए है; अतः वे जीवित रहने को अपना आद्य कर्त्तव्य समझेंगे। और मैं ऐसा कौन हूँ जो दूसरे प्रकार के लोगों को बुरा-भला कहूँ? वापस जाते समय रास्ते की भीड़ के कारण मेरी विचारों की लड़ी टूट गई, तथापि सारी रात-भर उस ब्राह्मण की दीन मुखमुद्रा और 'पउआ-भर चावल तो अधिक मिलेंगे' यह वाक्य मेरे अन्तःकरण के सामने बना ही रहा।

(यह लेख १९४५ में मराठी में लिखा गया था। उस समय किसी भी प्रांत में कांग्रेसी-मंत्रिमंडल न था।)

तब तो सभी मुनिर !

अण्णा मेरा स्कूल के दिनों का मित्र है। किन्हीं कारणों से कालेज की पढ़ाई अधूरी छोड़कर उसे नौकरी के लिए विवश होना पड़ा। आज उसकी हालत संतोषजनक है तथा दुनिया की निगाह में वह पूर्ण सुखी है। पढ़ाई-लिखाई उसकी भले ही छूट गई हो पर ज्ञानप्राप्ति की उसकी आकांक्षा कभी नहीं छूटी। उसका अध्ययन विस्तृत, विचार व्यापक, एवं दृष्टि श्रेष्ठ-वस्तु ग्रहणशील है। प्रचलित राजनीति को वह अच्छी तरह जानता है और इसी कारण अनेक बार उसके साथ विचार-विनिमय करने में तथा वादविवाद करने में मुझे आनन्द अनुभव होता है। इतना ही नहीं, कई बार तो उसकी जानकारी का मुझे फायदा भी खूब होता है।

जेल से छूटकर आने के बाद हमेशा की भांति उसने मुझे चायपान के लिए घर बुलाया तथा इस बार की जेलयात्रा के अनुभव पूछे।

मैंने उसे सुनाना शुरू किया—“सरदार गृह में ६ अगस्त को तड़के ही पकड़-धकड़ की खबर हमें मिल गई थी। बम्बई जाने से पहले ही हम

समझ गए थे कि फिर पूना हम नहीं लौट सकेंगे। सीधा यरवदा की ओर रवाना होना पड़ेगा। अपने घरवालों को भी हमने यह समझा दिया था। तथापि गांधीजी के भाषण से एक महीने तक तो कुछ नहीं होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता था और इसके कारण हम लोगों में से बहुत से लोग सरदार-गृह में निःशंक थे।

६ अगस्त को प्रातःकाल के समय पुलिस वालों ने सरदार-गृह को घेर लिया वहां मैं पकड़ में नहा आया, यह सही है, तो भी शिवाजी नगर पर रेल से उतरते ही अन्य अनेक कार्यकर्ताओं के साथ उसी दिन दोपहर के वक्त पकड़ लिया गया। ६ अगस्त की रात हमने यरवदा ही में व्यतीत की।

१० अगस्त को सबेरा होने से पहले से यरवदा की सारी बैरकें भर गईं। कुल जमा आठ-दिन ही में कैदियों की संख्या हजारों में हो गई। नियमानुसार आंढ़ना-बिछाना, कपड़े, भांडे-बर्तन कुछ भी मिलना मुश्किल हो गया। जेल के अधिकारी घबराये हुए नजर आते थे। घंटे-घंटे बाद दिन को भी और रात को भी राजकीय कैदी नारों के साथ यरवदा-मंदिर में प्रवेश करते थे। बैरकों में नियम का भंग करके आदमियों को ठूसा जा रहा है। जेल के अधिकारियों के लिए अनेक प्रयत्न करने पर भी इन्तजाम करना कठिन हो गया था। सब राजवंदियों की तरफ से जेल के अधिकारी मेरे साथ बहुत बातें ठहराते थे। उनकी लाचारी मुझे स्पष्ट नजर आती थी। राजवंदियों की असुविधा, कष्ट और उनका गुस्सा प्रतिक्षण मुझे अनुभूत होता था। आखिर में मेरे कहने पर हमारे साथियों ने बैरकों में जाने से इन्कार कर दिया। नियमानुसार प्रत्येक को जगह देने के लिए आग्रह किया। यरवदा के आसपास मिलिट्री सर्वत्र फैली पड़ी थी। मैंने अधिकारियों को सुझाया कि उन सैनिकों के पास से तम्बू लाकर इन्तजाम किया जाय। उसे उन्होंने मंजूर कर लिया। दो-चार दिन में सर्वत्र तम्बू गाड़

दिए गये और जेल को फौजी छावनी का स्वरूप प्राप्त हुआ । हमने निश्चय किया कि अपना सारा इन्तजाम हम खुद देखेंगे, फलतः हमारी इस बस्ती को कुछ काल के लिए स्वयं-शासित उपनिवेश का स्वरूप मिल गया । रसोई का काम करने वाले, परोसने का काम करने वाले, चिद्दीरसाँ का काम करने वाले, व्यायाम का इन्तजाम करने वाले सब हमी लोगों में से थे; सारा काम अनुशासनपूर्वक चलता था । राजकीय कैदियों से भिन्न जो कैदी वहां काम करने आते थे वे भी सब प्रसन्न थे ।

इस जानकारी को सुनकर अरणा ने कहा—“तब तुम नेताओं का तो और भी ज्यादा इन्तजाम रहता होगा ।”

“वैसी कोई बात नहीं थी । यह ठीक है कि जेल में सबसे मुझे आगे कर रखा था; परन्तु उसकी वजह से हमारे लिए कोई खास इन्तजाम किया गया हो, सो कुछ नहीं था । इसके विपरीत अधिकारियों और कैदियों में जो झगड़े पैदा हो जाते थे उन्हें मिटाते-मिटाने हमारी नाक में दम आ जाता था । तो भी एक बात ध्यान में रखने योग्य है । वह है, मुनीर नाम का कैदी ।”

“यह और कौन कैदी है ?”

“यह काली टोपीवाला कैदी ।”

“काली टोपीवाला ?” अरणा ने पूछा ।

“हां, जिस कैदी ने एकाधिक बार सजा हासिल करने का प्रयत्न किया हो, वहां उसे काले रंग की टोपी पहनाई जाती है । इतनी बात जरूर है कि सजाएं संपात्ति विषयक अपराधों की होनी चाहिए । उनको ही अधिक मान दिया जाता है । पूंजीवादी समाजरचना में जीवन की अपेक्षा वित्त को श्रेष्ठ समझा जाता है और उसका ही संरक्षण अधिक किया जाता है । काली-टोपी की तरह जेल में लाल और पीली टोपियां भी होती

हैं। पांच से अधिक वर्ष की सजा वाले कैदी को पीली टोपी पहननी पड़ती है। धोखेबाज और भागने की कोशिश करनेवाले कैदी को लाल टोपी दी जाती है। अनेक कैदियों की टोपियां दुरंगी रहती हैं। सन् ३१ में हमारे वार्ड में एक तिरंगी टोपीवाला भी कैदी रहता था। उसे बाबू चश्मेवाला कहते थे। मुनीर था तो काला टोपी वाला पर वह उतना ही ईमानदार और खुले अन्तःकरण का तथा सच बोलने वाला था।

“तो फिर मतलब यह हुआ कि चोर भी ईमानदार होते हैं ?” अण्णा ने कहा।

“जितनी मात्रा में चोर ईमानदार हो सकते हैं उतनी मात्रा में !”

“इस मुनीर की बात तो सुनाइए !”

“यह मुनीर जब तक हमारे तम्बू में रहा बिलकुल नियम से मेरा सारा काम करता रहा। जो भी बात उससे कहते वह बिलकुल ठीक से कर दिया करता। इतना ही क्यों, हमारे तम्बू में रहने वाले अन्य दो राजबन्दी के बारे में वह अधिक आदर नहीं दिखाता था और अन्य राजबन्दी उसके बारे में हररोज़ शिकायत भी किया करते थे। मैं समझा करता था कि अपने लोगों में मैं प्रमुख हूँ इसीलिए शायद वह मेरे प्रति इतना आदर प्रदर्शित करता है और मेरे लिए इतनी महत्त करता है। यही समझकर मैं उसके साथ व्यवहार किया करता था। पर एक दिन हमारे में से एक बन्दी ने उसके इस व्यवहार का भेद मालूम कर लिया। जब मैंने उसे सुना तो मैं चकित रह गया। मैंने उसे बुलाया। उसने मुझसे कहा :—

“आपके प्रति मेरे हृदय में विद्यमान आदर बुद्धि का जो कारण आपको विदित हुआ है वह सत्य है। गत बीस बरसों में मैंने अनेक चोरियां की हैं, पर मुझ कुछ बहुत ज्यादा प्राप्ति उससे नहीं हुई। मैंने कभी किसी

की हत्या वगैरह नहीं की। मेरे किसी भी अपराध में आपको हिंसा दृष्टिगत नहीं होगी। मैंने किसी के घर में सेध नहीं मारी, कहीं बटमारी नहीं की। जेब काटने के चाकू को छोड़ अन्य कोई शस्त्र मैंने हाथ में नहीं लिया।”

“यह धधा तू कब से करता आ रहा है?”

“गत बीस बरसों से! पहले बाल-अपराधी समझकर मुझे अपराधी लड़कों के कैदखाने में डाला गया था। वहाँ मैंने यह कला अधिक हस्तगत की। कहीं सभा हुई, या भीड़भाड़ हुई तो वहाँ मैं जाता और शांत रीति से एक-दो सेकंड में जेब काटने से जो प्राप्ति होती उतने पर संतोष कर लेता। कभी प्रयत्न असफल हो जाता है, कभी बहुत मामूली चीजे हाथ लगती हैं। पर आपकी सभा के दिन मुझे जितनी प्राप्ति हुई उतनी कभी नहीं हुई है; अतः मुझे आपके बारे में विशेष प्रेम अनुभव होता है! आपके कांग्रेस भवन की प्रायः सभी सभाओं में मैं उपस्थित रहता था। आखिर भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन में भी मैंने प्रवेश प्राप्त कर लिया था।”

“यह सब तू करता कैसे है!”

“नियमपूर्वक खादी के कपड़े पहन कर भीड़ में जोर-जोर से ‘इन्क़लाब जिन्दाबाद’ और ‘गांधीजी की जय’ के नारे लगाते हुए, हाथ में दो-चार अन्वबार और दो-चार पुस्तकें लेकर घुम जाने का हमारा तरीका है। सफ़ाईदार उर्दू बोलकर मैंने कांग्रेस की सभा में भी प्रवेश प्राप्त किया। आपके स्वयंसेवकों से ऐसा प्रतीत हुआ कि यह कोई उत्तर हिन्दुस्तानी कार्यकर्ता है। आपके वैयक्तिक सत्याग्रह के आंदोलन के वक्त की सभाओं में उपस्थित रहकर थोड़ा-बहुत मैंने हासिल किया। आपके उस समय के सत्याग्रह की सभा में अट्ठाईस सौ रुपयों के नोट मेरे हाथ लगे और यह सब आपके व्याख्यान के ही बदौलत हुआ, इसीलिए मुझे आपके प्रति

विशेष प्रेम अनुभव होता है ।”

मुनीर के इस कथन को सुनकर मैं किस तरह चारों शाने चित हो गया यह जब मैंने अरणा को बताया, तब अरणा ने कहा, “इसमें आपको उस अकेले मुनीर के बारे में क्यों खास बात मालूम पड़ती है ? मुनीर ने इतना तो ईमानदारी से बतला दिया कि उसने कांग्रेस की सभाओं से फायदा उठाया है । पर यदि आप अपनी कांग्रेस में जरा अधिक पता चलाने की कोशिश करें तो सैकड़ों की तादाद में ‘मुनीर’ भरे पड़े मिलेंगे । खादी टोपी पहनने वाले जुएवाजों को कांग्रेस ने निर्वाचन जीतने के लिए अपने नजदीक नहीं किया ? राजनीति में जैसा गमय आये वैसे मतों की लीला करने वाले कृष्ण कहैया तुम लोगो में नहीं हैं क्या ? दुर्मिच्छ का फायदा उठा कर जनता को चूमने के लिए काला बाजार करके सम्पत्ति उपस्थित करने वाले खादी टोपी वाले आज कांग्रेस के भीतर हैं या नहीं ?”

“पर अरणा, तेरे कहने का क्या यह अर्थ है कि इस प्रकार की वृत्ति जैसी कांग्रेसजनों में है वैसी अन्य पार्टी वालों में नहीं है ?”

“सर्वत्र है । हिन्दुत्व के प्रति आस्था प्रदर्शित करने वाले संस्थानिक (देशी नरेश) हैं ही न ? गरीबों की गर्दन मरोड़ने वाले, बड़े-बड़े देवालय बांधकर धर्म-मार्तेड नाम से अपनी ख्याति करवाते ही हैं न ? और साहित्य के क्षेत्र में ही क्या है ? श्रीमान् लोगों की स्तुति करके अपनी प्रतिभा को बेचने वाले कितने ही साहित्य मौजूद हैं । स्वार्थ के लिए कला (संगीत) का विक्रय करने वाले कितने ही कलावन्त (संगीतज्ञ) हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि, अपने भीतरी गुणों के बल पर सत्कार प्राप्त करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है और परिस्थिति का फायदा उठाकर श्रेष्ठत्व हासिल करने वालों की संख्या अधिक है । चोरी करके प्राप्त किये गये धन में और गुण न रहते हुए प्राप्त किये गये सम्मान में अन्तर ही

क्या है ? दोनों ओर अहिंसा हा से काम होता है । ऐसी हालत में बेचारे अकेले मुनीर का नाम बदनाम करना ठीक नहीं । उसने ईमानदारी से सत्य सत्य कह कर थोड़ी कृतज्ञता तो व्यक्त की, अन्यत्र तो उतना भी नहीं नजर आता । सम्मान किंवा प्रतिष्ठा हमें योग्य रीति से मिली है, किंवा हम उसके लिए पात्र हैं, ऐसा विचार कितने ही लोग करते हैं ? नेहरू जाकेट पहनते ही हरक अपने को नेहरू की समझने लग जाता है; भगवी टोपी पहनते ही सावरकरी गाली-गलांच मुँह पर चढ़ जाती है, हाथ में 'लोक युद्ध' पकड़ कर हर कोई अपने को स्टालिन समझने लग जाता है, और गांधी का अनुकरण करके कितने ही गांधी भक्तों के दिमाग आसमान पर चढ़ने लग जाते हैं । आज के समाज में गुणा के मूल्य-मान के लिए कोई उपयुक्त मापन नहीं है । सम्पत्ति को गुणों का नपैना बनाया हा नहीं जा सकता । लोकाप्रियता भी कोई अच्छा नपैना नहीं है । यही कारण है कि आज की परिस्थिति में कोई गदहा गोपाल बन जाय तो उसको खोज निकालना बड़ा कठिन हो जाता है ।”

अण्णा के इस वक्तृत्व को सुन कर मैं एकदम चिंत हो गया ! योग्यता के अनुसार सम्मान का सिद्धान्त बड़ा अच्छा है ; पर समाज में उसे प्रस्थापित करना कितना मुश्किल है । अपनी योग्यता की तुलना में कोई चात्र उपास मिल जाय तो क्या उसे चोरी कहा जाय ! तब तो बड़ी मुर्गावत उठ खड़ी हो जायगी ! सभी 'मुनीर' हो जायेंगे । प्रयत्न और फल के बीच गैर-समानुपात रहता हो ऐसा थोड़े ही है ! पुनश्च, सभी प्रयत्नों का सामाजिक मूल्य एक ही दृष्टि से आया जाय यह भी उचित नहीं, और यह समझते हुए ही मैंने अण्णा से कहा—

“सिक्कार के सामने एक डकैत ने जो डाका क्रिया बही तू भी कह रहा है । डकैत सिन्हा एक-दो के घर चोरी करता है, एक-दो घर में सेध

लगाता है, एक-दो का खून करता है; पर सिकन्दर प्रदेश के प्रदेश लूटता था, युद्ध में लाखों लोगों को यमलोक पहुंचा देता था, इसी तुलना में डकैत ने कहा था कि मुझ में और सिकन्दर में कोई अन्तर नहीं है एक का व्यापार फुटकर तो दूसरे का थोक, इतना ही अन्तर है। यदि इसी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो कांग्रेस की सभा में जेबें कतरने वाले मुनीर में और (उसी सभा में) बड़े-बड़े कार्यक्रमों की गप्पें हांकने वाले मुझमें तथा (मेरे जैसे) औरों में क्या अन्तर रह जायगा ?”

“कुछ भी नहीं।”

“तब तो सिकन्दर बादशाह की ही नौबत आ गई, ऐसा समझना होगा। सिकन्दर और डकैत ! देश के लिए प्रतिज्ञा करके लड़ने वाले वीर और जेब कतरा मुनीर ! सचमुच विचार करने योग्य वस्तु है।

चलो पार लन्दन चले

एक कवि ने कहा है कि काल कभी अत्यन्त वेग से चलता है तो कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह सर्वथा निःस्पंद अवस्था में है । कभी वह अटकता खटकता चलता है तो कभी वह मार्ग में आने वाली बाधाओं को इस तीव्र गति से पार करता हुआ चलता है कि देखने वाला दंग रह जाता है । वाग्दत्त वधूवर को विवाह तिथि तक का काल राह में रुक जाने वाला रुकावटें पैदा करने वाला, अड़ियल, परिस्थिति को न पहचानने वाला प्रतीत होता है । मृत्यु दंड की सजा वाले कैदी को अन्तिम क्षण तक का काल तीव्र गति वाला प्रतीत होता है । राजनीतिक लोग अपनी सुविधा के अनुसार काल के वेग को निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं । उन को ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल जगच्चक्र उनकी आयोजनाओं के अनुसार ही चला करता है । मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प किया करता है, पर काल सदा यही सिद्ध करके दिखाया करता है कि मनुष्यों के सारे प्रयत्न निर्मूल एवं लुप्त हैं । मानवीय कर्तृत्व को महत्व प्रदान करके भी किन्हीं दुर्बोध घटनाओं का अर्थ लगाने के लिए

चलो यार लन्दन चलो

देव नामक वस्तु को मानना पड़ता है। कम-से-कम आर्य-संस्कृति में देव को काय का पांचवां कारण माना गया है। हम अपने भाग्य का स्वरूप कैसा भी क्यों न निर्माण कर रहे हों, उसका अन्तिम स्वरूप तो कोई अपौरुष शक्ति ही निर्धारित किया करती है।

ये एवं एतादृश अन्य अनेक प्रकार के विचार मेरे मस्तिष्क में उस वक्त आ रहे थे, जब मैं विलिंग्डन हवाई अड्डे के स्वागत-गृह में खड़ा हुआ था। पृथ्वी की भांति गोलाकृतिवाले दालान में अनेक स्त्री-पुरुष एकत्र थे। इस समुदाय में सत्ता के मिह्रासन के चौथे खंभे के प्रतिनिधि (पत्रकार) विशेष दौड़भूप में थे। गत चौबीस घंटों में हम किस तरह व्यस्त रहे, समाचार कैसे प्राप्त किये, कंसा समाचार लिख भेजेंगे, यही उनकी बातचीत का विषय था। दो-चार आदमी इकट्ठे हुए कि “वार्ता वधू धनादिक” की चल पड़ी है। दो-चार पत्र पंडित एकत्र हुए कि समाचार किस प्रकार हस्तगत किया, किस प्रकार घड़ा, इन्हीं बातों की चर्चा होती है। इन पत्र-पंडितों में विदेशी संवाददाताओं के साथ-साथ देशी संवाददाता भी थे, पर उनका यह देशित्व और विदेशित्व केवल रंग से ही पहचाना जा सकता था। कारण, वेशभूषा से सभी विदेशी थे। किंवहुना देशी-भूषा में भारतीय संवाददाता उतना ही दुर्लभ एवं विस्मयकारक हैं जितना कि व्यापार में कोई महाराष्ट्रीय।

उस समुदाय के लोगों को देखने के पश्चात् यह देश गरीब है ऐसा किसी को अनुभव नहीं हो सकता था। उपस्थित स्त्री-समुदाय तो मानो विवाह समारम्भ के ठाट में था। दिल्ली के राजकीय बर्तुल में विचरण करने वाली स्त्रियों को देखकर कोई भी दर्शक यही कहेगा कि वेश-भूषा के बारे में तो ये सारे जगत् का नेतृत्व अवश्य स्वीकार कर सकती हैं। एक दर्जन से ज्यादा ही केमराँव वहाँ मौजूद थे। कदाचित् उनकी मौजूदगी के

कारण ही लोगों की वेश-भूषा में इतनी स्वच्छता दिखाई दे रही थी। उनमें कुछ-एक इसके लिये विशेष प्रयत्नशील दीख पड़ते थे, और जनान्तिकतया कहता हूँ, मैंने भी थोड़ा-सा प्रयत्न किया। पर बगैर इस्त्री का कोट सिर्फ हाथ पेरने से तो इस्त्री नहीं हो जाता न? अथच, मोटा-भोटा खादी का परिधान वस्त्र संवारने-बवारने से महीन तो नहीं हो सकता न? चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करते समय जैसे तारिकाएँ दिखाई देती हैं, तद्वत् नारी-समुदाय दिखाई दे रहा था। इतने में पुच्छल नक्षत्र के सदृश विचित्रता में ही अपने स्वभाव की सुसंगति दिखलाने वाला वेश किये एक व्यक्ति ने उस दालान में प्रवेश किया। वह व्यक्ति थे राष्ट्रपति आचार्य कृपलानी। मेरे मन को थोड़ी तसल्ली हुई। आखिर एक व्यक्ति तो अपने-जैसा नज़र आया।

थोड़ी ही देर में रा.न्द्र बाबू भी आ गये। हम तीनों बैंच पर बैठ कर नेहरूजी के आने की राह देखते रह। घर से बाहर निकलने समय सारा घर छानकर किसी समय कात कर बनाया हुआ एक सूती हार पंडितजी को पहनने के इरादे से मैं अपने साथ ले आया था। उस पर नजर गड़ाकर कृपलानी जी ने मुझसे कहा, “पंडितजी इस हार पर प्रसन्न तो होंगे नहीं, तब आप यह मुझीको क्यों नहीं पहना देते?”

मैंने कहा, “लन्दन की यात्रा करने वाले के लिए है यह। इसमें अपनी गर्दन उलझानी हो तो इतना दिव्य (अग्नि-परीक्षा) कराना पड़ेगा।”

इतने में जनसमुदाय के बीच गड़बड़ मच गई और मैं उठकर प्रवेश-द्वार पर पहुँचा। पंडितजी मोटर में से बाहर आये। उनका स्वागत करके सूती हार तो मैंने पंडितजी के गले में पहना ही दिया। अनेक पुरुषों ने उनका स्वागत किया। अनेक व्यक्ति फूलों के हार लाये हुए थे। उनको

पंडितजी ने स्वीकार किया। पर गले में उन्होंने सिर्फ सूती हार ही रखा। उस हार में अपनी अङ्गुली उलभाये हुए वह बोल रहे थे और विचार-मग्न भी दिखाई देते थे। उनके मन में उस समय कौन-से विचार चल रहे होंगे, इस बात का मैं विचार कर रहा था। एकाएक लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व की एक घटना मेरी आंखों के सामने आकर खड़ी होगई।

१९३१ का अगस्त का महीना होगा वह। गांधीजी “राजपूताना” नामक जहाज में बैठकर गोलमेज-परिषद् में भाग लेने के लिए लन्दन जा रहे थे। उस समय भी बम्बई बन्दरगाह में खड़े हुए जहाज पर गांधीजी को विदा देने के लिए एकत्र हुए लोगों में विद्यमान रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर वह जा रहे थे। १९३१ के युद्ध के अनन्तर प्रभूयमान आशाओं और आकांक्षाओं का बोझ अपने ऊपर लिए हुए वे प्रयाण कर रहे थे। सत्य के अतिरिक्त उनका सहकारी और कौन था? सौजन्य के अतिरिक्त उनके पास कौन-सा शस्त्र था? दृढ़ विश्वास के अतिरिक्त उनका मार्गदर्शक कौन था? वह कुछ चिन्तित-से दिखाई देते थे। उनके प्रस्थान करने से पूर्व गुर्जर कवि मेधाजी का एक काव्य उन्हें भेंट दिया गया था। यह प्याला कटुआ है परन्तु उसे आप ही पी सकते हैं, यह उसका आशय था। उनके साथ उनके अनेक सहकारी जाने के लिए उत्सुक थे; पर किसी को नहीं लिया गया। भारतवर्ष का भाग्य भारत ही में निर्मित होना चाहिए। ऐसा कहते हुए वे खाना हो रहे थे। उन दिनों भी इतिहास बहुत ही वेग से क्रियाशील हो रहा था। पर उसका क्षेत्र उन दिनों इंग्लैंड था। एक मंत्रिमंडल की नींव हिल चुकी थी। उसकी जगह दूसरा मंत्रिमण्डल आ रहा था। निर्वाचन का आक्रोश आकर्षित हो रहा था। सबको ऐसा ही लगता था कि बस, स्वराज्य तो आन ही पहुँचा, कुछ महीनों की ही कसर है।

रात्रि शीघ्र ही समाप्त हो जायगी और शीघ्र ही प्रभात का उदय होगा। द्विरेफ के इस प्रकार आशा बांधकर बैठने पर जिस प्रकार गजराज ने आकर कमलवन को उद्ध्वस्त कर दिया, वैसा ही कुछ प्रकार इस देश में भी हुआ। प्रचण्ड प्रभंजन की भांति नादिरशाही शासन ने भारत को ध्वस्त कर दिया। समर क्षेत्र में अजेय साबित होने वाले महात्मा ब्रिटिश लोकसभा की कुटिल नीति के समक्ष सर्वथा निष्प्रभ रह गये। थोड़ी ही देर में स्वराज्य का सौदा तय हो जाने की आशा लगाये हुए राष्ट्र की दिङ्मूढ़ की सी अवस्था हो गई।

कदाचित्, कदाचित् ही कह रहा हूँ, नेहरूजी के मन में भी गत इतिहास की स्मृतियाँ जागरित हो उठी हों? आज वह भी भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बन कर जा रहे थे। सहकारियों को अपने साथ लेकर जाने की उनकी इच्छा तो थी, पर सहकारी कोई जाने को तैयार नहीं था। सलाह-कारों की आवश्यकता थी, पर सलाहकार कोई बनने के लिए तैयार नहीं था। भारत के भाग्य को भारत में ही तैयार होना है, यह निश्चित होजाने पर भी वह भारत से बाहर जा रहे थे। स्वातन्त्र्य की कीमत अश्रु, और रक्त के रूप में भारत पर्याप्त अदा कर चुका है, इसका परिज्ञान उनकी मुग-मुद्रा पर से स्पष्ट व्यक्त हो रहा था।

भ्रूणहत्या करने वाली दाई

शौर्य, उदारता, बुद्धिमत्ता आदि गुणों से ही नेतृत्व की पूर्णता नहीं होती, यह इस काल का कटु अनुभव है। गत कुछ वर्षों में, विशेषतः गत कुछ महीनों में, तथापि गत कुछ दिनों में, राजकीय क्षेत्रों में जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उन्हें देखने पर कोई भी खम ठोंक कर नहीं कह सकता कि मैं ही मैदान मार लूंगा। कोई व्यक्ति वहीं पर बैठा हुआ किसी प्रकार का कूट-प्रपंच कर रहा है और मुंह तक आया हुआ कौर

छीन लेने के प्रयत्न में लगा हुआ है, इस प्रकार का संदेह आज वातावरण में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। भाषा अर्थ के लिए नहीं प्रत्युत स्वार्थ के लिए है, ऐसा ही अनुभव हो रहा है। जन्म लेने वाले बालक को दाई ही गला दबाकर मार तो नहीं डालेगी, इस प्रकार की भीति आज बहुतेकों के मन में उत्पन्न हुई हुई है। जमीन समझकर पैर रखने जायं और पैर जाकर पानी के प्रवाह में गिर पड़े, इस प्रकार का संमोह उत्पन्न हो गया है और ऐसी इस विचित्र परिस्थिति में पंडितजी का बाहर जाना कहां तक योग्य है ऐसा प्रश्न अनेक के मस्तिष्क में आता। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने दोनो हाथों से दोनों पक्षों (कांग्रेस और लीग) को आश्वासन दे रखा था, व्यक्त रूप में तो दे ही रखा था, तब अव्यक्त रूप में न दिया हो यह कैसे कहा जा सकता था ? अर्धदृष्टि वायसरॉय (वेवल) अदूरदृष्टि तो थे नहीं, हां, दीर्घसूत्री अवश्य थे।

उत्सवमूर्ति तथा अचलमूर्ति

इतने में 'खामोश खामोश' की मेघ-गजना हुई। विमानगृह के अधिकारी ने सूचित करते हुए कहा कि यात्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोहे की संरचनाओं से आगे न जाय। पंडितजी ने भीड़ में से निवृत्त कर विमान की दिशा में जाना आरम्भ किया। उन्हां के नभोवाणी द्वारा प्रसूत किये शब्दों में कहा जाय तो दैव उन्हें संकेत कर रहा था। वह यदि अकेले का ही दैव लेकर जा रहे होते तो उममें कोई बड़ी बात नहीं थी, पर वह तो अपने साथ चालीस करोड़ जनता के दैव को लेकर जा रहे थे।

समीपवर्ती एक पत्रपंडित ने मुझसे पूछा: "आपको क्या प्रतीत होता है ?"

मैंने कहा, "अब प्रतीति का प्रश्न ही नहीं रह गया है। अब तो देखने का प्रश्न रह गया है। हमारा उत्साह और हमारी उतावली

विलायत जा रही है और हमारा निश्चय एवं निग्रह यहीं रह रहा है यह हमारे लिये सौभाग्य की बात है ।”

उसने पूछा, “इसका अर्थ” ?

मैंने कहा, सरदार पटेल देवालय में संस्थापित अचलमूर्ति है और पंडितजी उत्सवमूर्ति । सरदार निग्रह है । ‘ना’ कब कहना चाहिए यह केवल उन्हीं को अवगत है । एतावता नेहरूजी के जाने में खतरा भले ही हो पर भय की कोई बात नहीं ।”

मैं कुछ अधिक नीति-पंडित हूँ, ऐसी उसकी धारणा हुई होगी, अतएव उसने अपना मुँह दूसरी ओर को फेर लिया ।

एक इमॉनट की ‘गुप्तगू’

गत छः महीनों की राजनैतिक प्रगति का जिसने अवलोकन किया है, वह यह अच्छी तरह जान गया होगा कि राजनीति में दृढ़निश्चयी एवं कठोर व्यक्ति की कितनी अधिक आवश्यकता है । जो स्वयं किसी के पास नहीं जाता, लोग उसके पास दोड़-दाड़ जाते हैं । जो किसी से बोलने के लिए तैयार नहीं, उससे लोग बातचीत करने के लिए तैयार रहते हैं । जो यह स्वयं नहीं बतलाता कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है, लोग उसी से जाकर पूछते हैं कि आप क्या लीजिएगा ? इन सब बातों का अर्थ हम कब समझेंगे ? हम अपनी स्वतन्त्र गति से क्यों न चलें ? जब हमारी अपनी शक्ति आज हमारे लिए आधार बना हुई है, तब हम परमुखापेक्षी क्यों रहें ? अपनी राजनीति के लिए जब हम स्वयंमेव सर्वसमर्थ हैं, ऐसी स्थिति हम अधीर वृत्ति होकर अविवेक पूर्वक अपना सर्वनाश क्यों करले ? अब हमारी स्वतन्त्रता को कोई हमसे दूर नहीं रख सकता । हम यदि चलने लगेंगे तो वे लोग जो स्तब्ध होकर हमारे पीछे खड़े हैं, अपने आप ही गतिशील होकर हमारे मार्ग का अनुसरण करने लग जायेंगे, यदि हम यह

समझने लग जायं कि जो हमारे मार्ग में रुकावटें पैदा करना चाहते हैं, उनके ऐसा करने से हमारा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, तो वे अपने आप ही सरल मार्ग पर आ जायेंगे। पहले भ्रमणमार्ग का मानचित्र रेखांकित करके नदी के प्रवाह ने कभी अपना प्रगमन आरम्भ किया है ? नदी तो अपना मार्ग, अपना विस्तार एवं अपनी व्याप्ति मार्गक्रमण करते-करते ही निर्धारित किया करती है। हवाई सेना के साथ वहां उपस्थित सारा जन-समुदाय जयहिंद की गर्जना करने लगा। पंडितजी ने राष्ट्रपति तथा राजेंद्र बाबू के साथ एक मिनिट गुफ्तगू की; हमारे साथ हस्तान्दोलन किया तथा सरदार बलदेवसिंह का हाथ अपने हाथ में लेकर वह विमान की ओर गये।

दो पंखे

विमान का यन्त्र - गर्जन आरम्भ हुआ, पर एंजिन का एक पंखा चल के ही न दे ! किमी ने कहा, जब तक दोनों पंखे चलने न लग जायं यह उड़ेगा कैसे ? दूसरा कहने लगा, एक पंखा जोर से चालू हो गया तो दूसरा अपने आप ही चालू हो जायगा और मानों किन्हीं घटमान एवं घटिध्यमाण घटनाओं के प्रतीकस्वरूप एक पंखा थोड़ी देर तक जोर से चलता रहा तत्पश्चात् दूसरा भी चालू हो गया और एक निमेष में विमान भूमि से अलग हो गया। दो एक मिनटों में आंखों से ओझल भी हो गया।

मैं सोचने लगा काल किस वेग से आगे जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। वह हमें पीछे की ओर भी ले जा सकता है। कारण, लंदन सदा से ही भारत की आशाओं की श्मशान-भूमि रही है। जिसकी इच्छा नहीं की वह प्राप्त हो और अपेक्षा नहीं की वह अनुभव में आये, यही आज तक का इतिहास रहा है। एकत्र की हुई शक्ति वहां बिखर जाती है और

निश्चय धरा-का-धरा रह जाता है। यह होने पर भी विश्व के अनेक-अनेक राजनीतिज्ञों को लंदन का मोह हुआ करता है। अध्यक्ष विल्सन की करुणावस्था लंदन ही में हुई। लीग और कांग्रेस वाले अपना सारा धोना लंदन के ही धोबीघाट पर ले जाना चाहते हों तो वह इस देश के लिए एक महान् दुर्दैव की वस्तु होगी। आज देश में प्राणहानि हो रही है उसी के साथ परदेश में मानहानि होने वाली हो तो...तो इस देश के दुर्दैव का अन्त नहीं, यही कहना चाहिए।

मैं अपनी इस विचार तन्त्रा में लीन था कि इसी बीच मैंने किसी मजदूर को “चलो यार लंदन में” यह गीत गाते हुए सुना। उसे कदाचित् इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि आज हो क्या रहा है? पर वह गीत इस बात का प्रतीक था कि सामान्य मनुष्य को किस प्रकार की प्रतीति होती है। मैंने भी मोटर में बैठते समय अपने स्नेहियों से कहा, “चलो यार लंदन में”। अबोध उत्साह भी जीवन की एक बड़ी भारी शक्ति है, क्यों सत्य है न ?

गोटीराम भैया

असेम्बली भवन में बैठा हुआ मैं पूना से आये समाचार-पत्र पढ़ रहा था । एक खबर से मालूम हुआ कि हमारे गोटीराम भैया का एकाएक देहान्त हो गया है । मार्च के पहले अठवारे में चुनाव सम्बन्धी तूफानी दौरा करता हुआ जब मैं कुछ घंटों के लिए पूना रुका था तभी गोटीराम भैया से मुलाकात हुई थी । चुनाव की बात आते ही जब गोटीराम भैया ने अपने एक-चौथाई सदी से परिचित स्वर में बतलाया कि काम 'कम्प्लेट' हो गया है तो मुझे बहुत ही आनन्द हुआ मैं जानता था कि कांग्रेसी उम्मीदवारों के सम्बन्ध में पूना में अन्दर ही अन्दर कुछ अप्रशस्त एवं अप्रामाणिक प्रचार चल रहा है । गलतफहमी की आग दावानल की भाँति प्रज्वलित हो कर अभी तक बुझने में नहीं आई थी । कार्यकर्त्ता तथा कमेटियां उदासीनता तथा उद्वेग की छुआ में कुछ कुम्हलाई हुई सी दिखलाई दे रही थीं । नियमक मण्डल काफी जोश के साथ काम करता हुआ दिखाई देता था । तथापि ऐसा भास होता था कि कहीं पर किसी का मन आशंकित-सा है । इसी कारण जब भैया के आश्वासन से मुझे यह मालूम पड़ा कि मंड़ई

विद्यापीठ अपना बाजू संभाले हुए है तो मुझे आनन्द होना स्वाभाविक था ।

गत चोथाई सदी के अपने सार्वजनिक जीवन में मैंने गोटीराम भैया को कभी कम महत्व का व्यक्ति नहीं माना । उनसे मेरा परिचय सर्वप्रथम सन् १६२० में हुआ । असहयोग के उस प्रभात काल में भैया का वह भव्य शरीर, विस्तृत भालप्रदेश, कदाचित् इसी कारण नाराज होकर नीचे दबी हुई नाक, पहलवानी पेशे का रंग-ढंग तथा तड़के-तड़के धूप चढ़ आने तक साइकिल पर या पैदल हाथ में तिरंगा झंडा लिए “देशाशी बणवा लागला, जन हो खादी वापरा” (देश में प्रचण्ड दावाग्नि प्रव्वलित है, धारण करो हे जन खादी परिधान को) की निरन्तर चाल रहने वाली घोषणा—ये सब घृणा के तत्कालीन इतिहास में अमर रहने वाली बातें थी । और हम जैसे लोगों के लिए जिन्होंने राजनीति के क्षेत्र में नया-नया ही प्रवेश किया था, भैया एक गर्व की वस्तु हो गये थे । पूना की मंडई (सब्जीमंडी) क्या थी एक शक्ति का केन्द्र थी, गांधी-भक्ति का तीर्थ थी । निःस्वार्थ जन-सेवा का निवास-स्थान थी । उस समय के लोगों में अहमद भाई तथोली प्रमुख थे । अहमद भाई एक विनमोल मगर विनमोल कार्यकर्त्ता थे । मंडई की वह मंगलमूर्ती थे । हिन्दू-मुसलमान दोनों ही को उनके बारे में आत्मीयता प्रतीत हुआ करती थी । गोटीराम भैया उनके दाहिने हाथ थे । पिकेटिंग के अभियोग में किस तरह उन्हें सजा हुई; उसके बाद मैंने और भैया ने जेल में जाकर म्युनिसिपल चुनाव के लिए किस तरह उनकी सम्मति प्राप्त की; कैसे उनका चुनाव हुआ; कैसी-कैसी मंडई में सभायें हुईं; मेरे यह कहने पर कि रायबहादुर लल्लूभाई कांग्रेस के उम्मीदवार नहीं हैं किम तरह सभा में हंगामा मच गया; किस प्रकार मेरी रक्षा के लिए भैया ने मेरे चारों तरफ घेरा डाला; किस प्रकार परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में तीव्र मतभेद होते हुए भी मुझ में और

मंडईवालों में अखंड और अबाधित मैत्री बनी रही ये सब बातें आज मेरी स्मृति में अत्यन्त तीव्र रूप से आ रही हैं ।

*

*

*

*

तीस और बत्तीस साल के आन्दोलन में भैया ने कठोर कारावास सहन किया । सरकार की दृष्टि में वह एक सामान्य मनुष्य समझे गये, इसीलिए दूसरा दर्जा दिया गया और हमें दूसरा । स्वभावतः अनेक बार एक ही जेल में रहते हुए भी हम एक-दूसरे से मिल नहीं पाये और न बातचीत कर पाये । पर बयालिस के आन्दोलन में यह सब बदल गया । नां अगस्त के सुप्रभात में बम्बई के सरदारगृह पर घेरा डालने वाले पुलिस वालों ने मेरा तथा जेधे का पीछा करके हमें शिवाजीनगर पर ही पकड़ लिया तथा वहां से हमें सीधे यरवदा पहुँचा दिया । वहा दरवाजे पर संभाजी जेलर और भैया खड़े हुए थे । भैया ने बताया कि उन्हें अभी-अभी पकड़ कर पहुँचाया गया है । उस दिन से लेकर मई १९४४ तक अर्थात् भैया की रिहाई होने तक भैया मेरे ही साथ रहे । यरवदा इंडस्ट्रियल स्कूल, साबरमती और नासिक इन सभी जेलों में वह मेरे ही साथ थे । मैंने भी जोड़तोड़ लगाकर भैया को “ए” क्लास डिटेन्यू के रूप में रखने की व्यवस्था करवा दी थी ।

जेल में भैया का कमरा एक मंदिर था । सामने छोटा-सा बगीचा, अन्दर अनेक देवताओं के चित्र और भक्तिविषयक ग्रन्थ । जिस प्रकार शरीर में आत्मा निद्रार्थी रहती है उसी प्रकार उन भक्तिविषयक ग्रन्थों के पृष्ठों में “शाम्भवी” भरी हुई थी । हर रात को भैया अपनी खंजड़ी बजाकर भक्ति-मार्ग की पुकार लगाते और शानी तथा आर्त्त दोनों को अपने पास बुलाया करते थे । सहजानन्दस्वामी जैसे ज्ञान-मागा; साने गुरुजी जैसे भक्तिमागा; शीघ्र रिहाई की इच्छा से भजन में भाग लेने वाले अनेक

आर्त्त; मेरे जैसे भजन-पूजा आदि वस्तुओं का उपहास करने वाले उपहासक, सभी भैया के कमरे में एकत्र हुआ करते थे। ब्रह्मानन्द के पद, कबीर के दोहे, तुकाराम के अभंग आदि तो भैया सुनाया ही करते थे, इनके अतिरिक्त वह स्वकृत काव्य का भी रसास्वादन करते थे। इंडस्ट्रियल स्कूल के उपनिवेश में हमारे साथ कुछ साम्यवादी और समाजवादी युवक भी रहा करते थे। उन लोगों से मैंने कहा कि भैया की शक्ल कार्ल मार्क्स की शक्ल से मिलती है। इस साम्य के कारण ही उन नास्तिक लोगों में से भी कुछ लोग भैया की भजन मंडली में शामिल होने लगे। भैया के भजन में रौनक लाने के लिये तथा भक्ति के प्रादुर्भाव के लिए कैलाशपति के अत्यन्त प्रिय दो द्रव्यों की आवश्यकता रहती थी और उन वस्तुओं का अभाव न रहे इस बात का मुझे हर समय ध्यान रखना पड़ता था।

पूना से जिस समय हम पन्द्रह आदिमियों को साबरमती भेजा गया था उस समय की घटना मुझे आज याद आती है। वहां जाने पर जब भैया को मालूम हुआ कि सामान की तलाशी लिये बिना हमें अन्दर नहीं जाने दिया जायगा तब उन्होंने मेरी शरण ली, क्योंकि उनके पास ये चीजे भरपूर थी। जेल के अन्दर के भाग में दादा साहेब मावलंकर हम लोगों के स्वागत के लिये चाय की तैयारी किये बैठे हुए थे। समस्या विकट थी, तथापि बड़ी युक्ति से मैं पहरदार की नजर बचाकर भैया की ये सारी चीजें फाटक की सीमा से उनके निवास-स्थान तक सुरक्षित ले गया। वहां भैया ने अपने गाने तथा भजन से साबरमती जेल के कैदियों के मन इस प्रकार माहित कर लिये कि भैया के लिए आवश्यक पुरस्कार की बिलकुल कमी नहीं पड़ी। साबरमती से नासिक जेल के लिए प्रस्थान करने से पूर्व बिदाई देते समय लोगों ने अपने भाग्यों में भैया की जो प्रशंसा की उसे सुनकर हम में से कुछ को तो भैया की

लोकप्रियता पर कुछ ईर्ष्या ही हुई ।

नासिक की जेल वह भूमे है जिसे भगवान राम ने अपने पदक्षेप से पवित्र किया था । कौन कह सकता है कि उस स्थान पर विद्यमान वृत्तों की पंक्तियों में बैठकर अथवा गोदावरी के परिसर में भटकते हुए प्रभु रामचन्द्र ने मानव-शत्रु दशानन के वध का निश्चय किया हो । मेरे कमरे के एक पार्श्व में जेधे तथा दूसरे पार्श्व में भैया रहा करते थे । बहुत सवेरे उठकर मैं चार-पांच घंटे लेखन कार्य किया करता था । उस काम में किसी प्रकार की बाधा न आये, इस बात का ध्यान ये दोनों सन्मित्र रखा करते थे । महीने पर महीने जेल में ही व्यतीत होते जा रहे थे । यह देखकर नये तथा पुराने कार्यकर्ता थोड़े निराश और अन्यमनस्क से हो गये थे । आरम्भ काल का उत्साह समाप्त होता जा रहा था । बहुतों की अध्ययन-शीलता क्षीण होती जा रही थी । खिलाड़ी वृत्ति चिड़चिड़ी वृत्ति को जगह देने लगी थी । मुक्तमनस्कता उन्मनस्कता के रूप में परिवर्तित हो चली थी । यदि थोड़े से लोगों को अपवाद मानें तो प्रायः सभी व्यक्तियों की मन प्रवृत्ति उदासीन होती जा रही थी । सहजानन्द स्वामी के चतुः सूत्री पर होने वाले विवेचन में रस लेने वाला श्रोताबृन्द कम होता चला जा रहा था । अनेक विषयों पर व्याख्यान कराने के विचार से प्रारम्भ की गई व्याख्यानमाला नाममात्र के लिए ही अवशिष्ट रह गई थी । परन्तु हमारे भैया का भजन-बल्लव नन्दादीप की भांति अखंड रूप से लौ उठाता रहा, गंगा के प्रवाह की भांति वर्द्धिष्णु होता रहा । उस मंडली में मैं भी भाग लिया करता था ।

१९४४ के मार्च का महीना था । महाशिवरात्रि थी । उस दिन मैंने 'राज्य शास्त्र विचार' नामक ग्रंथ के लेखन को समाप्त करने का निश्चय कर

रखा था। हमारे मित्रों का यह निश्चय हुआ कि इस अवसर को एक समारम्भ के रूप में सम्पन्न किया जाये। यह निश्चय हुआ कि शिवरात्रि के लिए अनुरूप प्रसाद शांभवी का सब को पान कराया जाय। इस आयोजन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने का भार हमारे सकलगुणसम्पन्न पांडुरंग (उत्पात) पर डाला गया। पांडुरंग एक प्रकार के हमारे जेल जीवन के डाकिया थे। रिहाई की खबर वही लाया करते थे। किसी को किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो उसको लाकर देने का चातुर्य उन्हीं में था। डेढ़सौ आदमियों को 'राज्य शास्त्र विचार' ग्रंथ की समाप्ति के उपलक्ष्य में भरपूर शांभवी पिलाने का श्रेय भैया ने हासिल किया और संयोग की बात यह है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय अर्थात् गत गांधी जयन्ती के मौके पर भैया ने ही अगुआपन स्वीकार करके अपने खर्च से पेड़े बाटकर मिठास पैदा की।



और आज यह सहृदय सहकारी विभूत हो गया है। व्यास की तरह खादी को कंठरव से कामधेनु बताने वाले एक निस्सम खादीभक्त को आज मृत्यु ने हम से छान लिया है। फैजपुर कांग्रेस के समय पूना से फजपुर तक पैदल यात्रा करने वाला यात्री आज अर्न्त जीवन-यात्रा समाप्त किये बैठा है। अनेक बार अनेक वर्षों तक कारागृह में अर्न्त जीवन व्यतीत करने वाले एक फौलादी राष्ट्रभक्त को मृत्यु ने मृदु कर लिया है। मेरे मंडई विद्यापीठ का आग्र स्नातक आज "स, विद्या या विमुक्तये" इस महान् तत्व का आचरण करते हुए दिवंगत हो गया है। भजन के वक्त भैया के अचर परिचित आवाज में निकलने वाले शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं—“इस गाड़ी से जाने वाले, चलो तुम्हारी बारी है।”

और अपना समय आते ही भैया चले गये। एक सन्मित्र से, एक अनुयायी से, एक नागरिक से, अन्धेरी रात में आवाज लगाते ही प्रत्युत्तर देकर तैयार रहने वाले अपने शरीर एवं कीर्ति के संरक्षक से आज मैं हाथ धो बैठा हूँ। भैया, समस्त महाराष्ट्र की ओर से तुम्हें मेरे शतशः प्रणाम।

अथ विमान मार्गेण

एक समय था जब मानव-जाति अनन्त आकाश में उड़ान भरने वाले पक्षियों को देखकर उनके सौभाग्य के प्रति ईर्ष्या किया करती थी, पर आज वैसा करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। इसी प्रकार किसी भी नई योजना को अव्यवहार्य सिद्ध करने के लिए यह कहना भी गलत होगा कि वह 'कल्पना के आकाश में ली गई एक उड़ानभर' है। नये-नये शास्त्रों, विद्याओं और विज्ञानों का इतना कुछ आविष्कार हो गया है, नई-नई साधन-सामग्रियों के निर्माण में मानव-जाति ने इतनी कुछ प्रगति कर ली है कि अब बहुत-से पुराने मुहावरों और कहावतों को बदल डालना पड़ेगा, जीवन सम्बन्धी अनेक अनुभवों को निरर्थक कहकर छोड़ना पड़ेगा तथा जीवन सम्बन्धी अनेक दृष्टिकोणों में पर्याप्त सुधार करना आवश्यक हो जायगा। इस प्रकार के दार्शनिकस्वरूप के विचार मेरे मस्तिष्क में क्यों आ रहे थे, इसकी एक वजह थी। मैं स्वयं इस समय जमीन पर नहीं था, जमीन से हज़ारों फुट की ऊंचाई पर दौड़ लगाने वाले टाटा कम्पनी के एक हवाई जहाज़ में बैठा हुआ था।

अपने कालेज-जीवन में कालिदास द्वारा रघुवंश में वर्णित राम और सीता के पुष्पक विमान में बैठकर लंका से लेकर अयोध्या तक किये गये प्रवास का वृत्तांत पढ़ रखा था। इसी प्रकार विरही यक्ष ने मेघ को अपना दूत बनाकर आकाश के अनन्त विस्तीर्ण प्रदेश में से होकर गुजरते समय कहीं राह न भटक जाये इसलिए जो मार्ग के निश्चित संकेत बताये थे वे इस समय भी, जबकि मेरी रसिकता की उम्र समाप्त होने को आ रही है, स्मृति-पटल से पूर्णतया पुछ नहीं गये थे। यह ठीक है कि मैं इस समय राम के समान किसी जोड़े के रूप में यात्रा नहीं कर रहा था, और न मेरे पास किसी विरहपीड़ित व्यक्ति के दूत का ही काम था। इस दीन दुर्गत देश के करोड़ों रूप्यों से संबन्धित विषयों के बारे में निर्णय करने के लिए नियुक्त विधान परिषद् की समिति के काम पर मैं जा रहा था और एक प्रसंग आ पड़ा था इसलिए आकाशमाग से जाना मेरे लिए आवश्यक हो गया था।

कांटे और—

टाटा कम्पनी के टिकट घर में “पंच पंच उषः काले” जब मैं उपस्थित हुआ, उस वक्त वहां का ठाठबाट देख कर मेरी अवस्था एक नन्हे मुन्ने की-सी होगई हो तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं। दीवार पर भारतवर्ष का एक सचित्र नक्शा बना हुआ था। भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के चित्र दिग्वाये गये थे। बम्बई में भारत की टक्काल है, अतः वहां ऐसा चित्र बनाया था कि पैसे बन कर बाहर आ रहे हैं। दिल्ली के चित्र में एक सरकारी अफसर दिखलाया था जिसकी मेज पर फाइलों का बड़ा भारी ढेर है और एक ओर लाल फीतों का गुच्छा पड़ा हुआ है। सिंध हैदराबाद में हूरो का उपद्रव उनकी डाकेज़नी का दृश्य दिखलाकर मानों मुस्लिम लीग की नीति का ही मूर्त चित्र खींच

दिया था । इसी के साथ किसी भी स्वतंत्र्य वीर के अन्तःकरण को ठेस न पहुँचे इस बुद्धि से नेपाल की सरहद पर एक हाथ में कुकरी और दूसरे हाथ में ताजा-ताजा कटा हुआ आदमी का सिर लिये हुए शिखावान्, हिंदू धर्म का भाग्य विधाता, गुरखा चित्रित कर रखा था ।

इस नक्शे की ओर मैं बहुत देर तक खड़ा देखता रहा । पर जब वहाँ के एक अधिकारी ने जरा रोबदार आवाज़ में मुझसे पूछा कि 'आप मुसाफिर हैं ?' तब मेरी यह विचार-तन्द्रा टूट गई । मेरी प्रामीण पोशाक को देखकर उसे कदाचित् ऐसा प्रतीत हुआ हो कि यह कोई बाहरी आदमी यों ही देखने के लिए इस जगह चला आया है । मैंने कहा, 'हां'; साथ ही मैंने अपने चमड़े के वेग की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया । इस वेग पर मेरे विचारशील पुत्र ने मेरे नाम और पद का ज्ञान करानेवाले अक्षर इस प्रकार लिख कर रखे थे कि भुंभली नजर वालों को भी उनका पता चल जाय । कहने की ज़रूरत नहीं कि उन अक्षरों को देखते ही उस अधिकारी के व्यवहार में 'हृदय-परिवर्तन' सा दृष्टिगोचर हुआ । रेलवे में जितना सामान मुफ्त में एक यात्री ले जा सकता है, उतना ही यहाँ पर भी ले जाया जा सकता होगा । इस विचार से अस्मदादिक (हम) ने अपने साथ सामान लिया हुआ था । जब उस सामान को तोला गया और उसके अधिक पैसे मांगे गये तब मालूम पड़ा कि एक बिस्तर की जितनी कीमत है उतना ही दिल्ली तक का उसका हवाई जहाज का किराया है । और इसके बाद जब उस अधिकारी ने मुझे भी तुलायंत्र पर खड़ा होने के लिए कहा, तब यह व्यक्ति अपने वजन के अनुसार तो कही किराया वसूल नहीं करेगा ऐसी भीति उत्पन्न हुई ।

राजनीतिक वजन बहुत शीघ्रता से बढ़ता और घटता है; पर शारीरिक वजन शीघ्रता से घटता नहीं, यह तो स्पष्ट ही है । जेल में काली टोपी

वाले कैदी इस प्रयत्न में रहते हैं कि उनका भार कम हो जाय। इसके लिए वे रोज दौड़ लगाते हैं, अथवा अन्य अनेक प्रकार की दवाइयां लेते हैं। इसके लिए कुछ समय की भी अपेक्षा रहती है। पर यहां तो एक निमेषार्ध में ही वज़न किया जाने वाला था। सामने कांटा (तुला-कंटक), शरीर पर कांटा (भीति-निर्मित रोमन्च कंटक) और अधिक किराया मांग बैठे तो बटुए पर भी कांटा (संकट) ऐसा कुछ टेढ़ा प्रसंग उपस्थित था। तथापि अपने कुलदेवता का स्मरण करके मैं उस तुलायंत्र पर आरुढ़ हो ही गया। अन्त में वज़न किये जा चुबने के बाद जब उस अधिकारी ने कुछ भी नहीं कहा, तब बहुत आनन्द हुआ। इस गड़बड़ी में हाथ में पकड़ने के डाकडुमेंट बेग का वज़न करना रह ही गया। पूना निवासियों की सहज चतुरता के साथ मैं उस बेग को हाथ में लेकर जिस गति से सभामंडपों में प्रवेश किया करता था, उसी द्रुतगति से उस कम्पनी की बस में जा बैठा। अपनी इस चतुराई पर मैं मन-ही मन बड़ा खुश हो रहा था। पर इतने में नारियल के पेड़ जैसा ऊंचा पूरा, गज भर चौड़ा एक अंग्रेज भी अपने हाथ में वैसा ही बेग लेकर तुलायंत्र पर खड़ा हुआ। कम्पनी वालों ने उससे कुछ भी अधिक पैसे नहीं लिये। तब कहीं मेरे ध्यान में आया कि जिस बात को मैं अपना बड़ा भारी पराक्रम समझ रहा था, वह और कुछ नहीं निपट लड़कपन था।

गुलाब

तड़के-ही-तड़के बम्बई की महालक्ष्मी को बाईं ओर छोड़कर हमारी गाड़ी शांताक्रूज के हवाई जहाज के अड्डे पर पहुँची। वहां चाय का इन्तजाम था। बिस्कुटों का भी ढेर-सा पड़ा हुआ था। पर यह मुपत का था या दामों का था, इस बात का ठीक से अन्दाज़ा न लग सका। अतः अस्मदादिक (हम) ने सिर्फ चाय से ही काम चला लिया। परिचारिका

विस्कुटों को आगे करते हुए बारबार हमसे उन्हें लेने के लिए आग्रह करती थी। पर मैं हर बार यह दिखाने का प्रयत्न करता कि मैं 'कम स्वात्रो' के मत को मानने वालों में से एक हूँ।

इतने में भोंपू की एक आवाज़ हमने सुनी। इसका संकेत यह था कि ठीक साढ़े छः बजे मुसाफिर लोग हवाई जहाज के पास जायें। हम सब स्त्री-पुरुष मिलाकर कोई पन्द्रह के करीब होंगे। हम लोग विमान के साथ लगाई हुई सीढ़ी पर से होकर विमान में जाकर बैठ गये। अनेक बार आकाश में उड़ने वाले विमानों को मैंने देखा था; पर उसे समीप से देखने का जीवन में यह पहला ही अवसर था। एक विशालकाय सामुद्रिक मत्स्य की-सी उसकी आकृति थी। जिस प्रकार बसों में मुसाफिरों के बैठने के लिए इन्तजाम रहता है ठीक वैसा ही कुर्सियों आदि का इन्तजाम यहाँ भी था। जुड़ियाँ कुर्सियों की सात पक्तियाँ थी और इकहरी कुर्सियों की सात; इस प्रकार कुल जमा इक्कीस मुसाफिरों के बैठने के लिए उसमें इन्तजाम किया हुआ था। कुर्सी पर बैठने के बाद यंत्र के चालू होने की आवाज़ आने लगी और जमीन पर ही लगभग आधा मील दौड़ लगाने के पश्चात् वह जमीन से अलग हो गया।

विमान में यात्रियों की सुविधा की देखरेख के लिए दो परिचारिकाएँ नियुक्त थीं जो यात्रियों को कान में डालने के लिए रुई दे रही थीं। उनकी उम नीली पोशाक को, पाउडर से शुभ्र हुए बदन को और लिपस्टिक से खतवत् रंजित ओष्ठदुग्म को देखकर किसी भी 'वेदाभ्यास जड़' मनुष्य का हृदय क्षण भर के लिए 'काव्यमय' हो उठता। चूँकि यह यात्रा आकाशमार्ग से हो रही थी अतः स्वभावतः मुझे मेघदूत की "ईषत श्यामः, शेष विस्तार पाण्डु" वाली पंक्ति स्मरण हो आई। अन्तर इतना ही था कि उसमें 'ईषत श्यामा' लिखा हुआ था और यहाँ मामला

था 'ईषतरक्ता' का ! हवाई जहाज की घरघर इतनी ज़्यादा थी कि आपस में एक-दूसरे से बातचीत करने में भी आजाद मैदान में भाषण देने से कम शक्ति नहीं लगती थी । ये परिचारिकाएं या परियां, जब हवाई जहाज जमीन से ऊपर की ओर उड़ने लगा तब हर एक यात्री से पट्टा बांधने के लिए कहने लगी । दूर से कहें तो किसी को सुनाई न दे; अतः हरेक के कान के पास मुंह लेजाकर उन्हें कहना पड़ता था । यात्रियों में कुछ 'रसिक' यात्री भी थे, वे ऐसा दिखावा करते थे कि उन्हें उन परिचारिकाओं की बात कुछ भी सुनाई नहीं दी । जहाँ एंजिन रहता है उस भाग के द्वारदेश पर बिजली के प्रकाश में अंग्रेजी में पट्टा बांधने का आदेश लगा हुआ मैंने देखा और तत्काल ही कुर्मी से बंधा हुआ वह पट्टा मैंने बांध लिया । जो लोग स्वयं यह नहीं कर सकते थे उन्हें पट्टा बांधने का काम भी परिचारिकाओं को करना पड़ता था । फलतः उन यात्रियों को न केवल दृष्टि-सुख का अपितु ईश्वर-स्पर्श-सुख का भी लाभ हो जाता था । मैं चूंकि इतना 'आधुनिक' तबियत का नहीं था, और समाजवादी नीति में उतना परिपक्व नहीं था, इसलिए स्वातंत्र्य का उपार्जन जिस प्रकार व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए उसी प्रकार यह 'बंधन' का कार्य भी मैंने स्वयमेव कर लिया । ऊखली से जैसे श्रीकृष्ण को बांध दिया गया था वैसा ही कुछ दृश्य अपनी-अपनी कुर्तियों से बंधे हुए इन यात्रियों को देखने पर आंखों के सामने उपस्थित होता था । विमान जब खूब ऊंचाई पर चला गया तब हमने अपना यह बंधन खोल दिया । मानो परिपूर्ण विलास के उपभोगार्थ इन बंधनकारी मेखलाओं को हमने निकाल फेंका हो । अब हमारी वायुयान की वास्तविक यात्रा आरम्भ हुई ।

सोने की साबरमती

पास के कांच के रोशनदानों में से नीचे झांक कर देखने पर नीचे के खेत ऐसे नज़र आते थे जैसे कि नाना प्रकार के रंगों वाले चिथड़ों को सीकर बनाई गई गुदड़ी नज़र आती है। खेतों को देखकर ऐसा भी मालूम पड़ता था मानो बड़े-बड़े मैदानों में छोटी-छोटी बावियाँ फैली पड़ी हों ! हम समुद्र के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। एक नदी के बाद दूसरी नदी समुद्र में छुल्लांग मारती नज़र आती थी। कार्लिदास के द्वारा वर्णित “पिबत्यसो पाययते च सिन्धुः” का यथार्थ अनुभव इस क्षण मुझे हो रहा था। किसी एक बड़ी नदी से मिलनेवाले छंटे-छंटे जलप्रवाहों को हम देखते थे तो ऐसा प्रतीत होने लगता था मानो किसी बड़ी-बड़ी टहनियों वाले पेड़ की छांह जमीन पर पड़ी हुई हो ! रेलवे लाइन रोमराजी की भाँति भासित होती थी। किसी अस्पष्ट स्वरूप के हिलने डुलने को देख कर हम कल्पना कर सकते थे कि खेतों में हल जाता जा रहा है।

प्रति घंटे विमानवाहक कार्ड पर यह सूचित किया जाता था कि हम अब किस स्थान पर हैं, कितनी ऊँचाई पर हैं तथा किस वेग से उड़ रहे हैं। बाहर के तापमान का पता भी वह देता जाता था। दस हजार फुट की ऊँचाई पर प्रति घंटा १७५ मील की रफ्तार से हम जा रहे हैं, अब हमारा विमान सूरत पर है, बाहर का तापमान १५ है और ठीक ८ बजे हम अहमदाबाद पहुँच जायेंगे यह भी उसमें बताया हुआ था। बाहर कल्पनातीत नयन-मनोरम दृश्य आँखों के आगे आते थे और इधर अन्दर परिचारिकाएँ मुस्कराती हुई ‘आपको चाक्लेट चाहिए ?’ ‘विमान-यात्रा के कोई विकार तो नहीं हुए न आपको ?’ ‘कोलेन वाटर लाऊँ आपके लिए ?’ इत्यादि प्रश्न पूछती थीं।

बाहर के सफेद बादलों को कभी एक ओर को धकेल कर, कभी उन्हें

नीचे करके तो कभी स्वयं उनके नीचे से निकलकर विमानवाहक हमें यह 'धर्मशिक्षा' पढ़ा रहा था कि 'साधनानामनेकता' (स्व० लो० तिलक का वाक्य) ही अपने ध्येय को हस्तगत करने का श्रेष्ठ उपाय है। अन्दर और बाहर के शुभ्र मेघों की भांति ये दोनों परिचारिकाएं विद्युल्लता की तरह इधर से उधर आती-जाती थीं। और इस बीच विद्युल्लता की कंध के पश्चात् जैसे झुलझुल आती है उसी प्रकार बाहर काले बादल नज़र आने लगे। बरसात की झड़ियाँ उड़ हो गईं और प्रदर्शनियों के हिंडोलों की तरह हमारा विमान क्षण में ऊपर तो क्षण में नीचे होने लगा। बोर्ड पर फिर पट्टे बाँध लेने का आदेश दिखाई देने लगा। पाँच मिनटों में ही मुसाफ़िरो की हालत बुरी हो गई, कुछ को उलटियाँ भी हुईं। परिचारिकाएं मुस्तैदी के साथ इधर-उधर जा रही थीं। स्मेलिंग साल्ट तथा कोलन वाटर की पट्टियाँ बाँध रही थीं। मैं सोचता था, शायद मुझे भी ये विकार होंगे और उन परिचारिकाओं के धात्रीकार्य का कोमल अनुभव प्राप्त करने का अवसर मुझे भी मिलेगा। पर मुझे कुछ भी नहीं हुआ। मैं तो 'स्थाणुरयं पुरुषः' की भाँति सर्वथा निर्विकार अवस्था में था। केवल 'रसिकता' के लिए कुछ करे तो उसकी भी अब उम्र नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त यह भी डर था कि अगर ऐसा-वैसा कुछ कर बैठूँ तो कोई गेन्टायो इस गल्प को कुछ और नोन-मिर्च लगाकर पुण्यपत्तन तक पहुँचाये बग़ैर नहीं रहेगा।

दस मिनटों तक इसी वातावरण में हमारे विमान ने यात्रा जारी रखी और ८ बजे के लगभग भिलों की ऊंची-ऊंची चिमनियों से विभूषित अहमदाबाद की नगरी दिखाई देने लगी। साबरमती नदी शहर के बीच में से अपने पूरे यौवन में उमड़ी बह रही थी; और बिजली के कारख़ाने के पास वाली साबरमती जेल का, जहाँ कुछ काल के लिए मैं भी रह चुका

हूँ, परकोट दिखाई दे रहा था। युद्धकाल में आप लोग यदि अपने मालिकों से किसी किस्म का झगड़ा या असहयोग न करें तो यह साबर-मती 'सुवर्णमती' हो जायगी ऐसी वल्लभभाई पटेल ने घोषणा की थी। वस्तुस्थिति भी वैसी ही है। करोड़ों ग्राहकों को नग्न तथा अर्धनग्न रखकर मिल मालिकों ने अपनी चांदी बनाई, यह तो सर्वविदित वस्तु है। स्मृद्धि का उन्माद ही मानों इस उमड़ कर बहने वाली साबरमती के पानी की शक्ल में दिखाई दे रहा था। "दूरस्थ भूधरा रम्याः" यह भले ही सत्य हो तथापि अहमदाबाद की मैली-कुचली बस्ती दस हजार फुट ऊंचाई पर से भी वैसी ही दिखाई देती थी। जिस जगह सत्याग्रहाश्रम हो वही काले बाज़ार का विद्यापीठ भी हो, जहाँ सर्वसंगपरित्यागी महात्मा रहता हो वहीं गरीबों के चीथड़ों तक को खसोट लेने वाले महाभाग निवास करते हों, यह बात इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है कि यह विश्व द्वैत से भरा हुआ है।

भूमिगत हुये !

अहमदाबाद शहर पर से होकर हवाई अड्डे पर उतरते समय इस प्रकार के विचार आये बगैर न रहे, यह सच है। हवाई जहाज जब नीचे उतरने लगा उस समय फिर 'पट्टे' बांधने का आदेश मिला और कुछ ही मिनटों में हम "भूमिगत" हो गये। अहमदाबाद के हवाई अड्डे पर हमें जो न्याहार (नाश्ता) दिया गया, उसमें क्या था यह बताकर मैं सनातनी पाठकों के हृदय का ठेस पहुंचाना नहीं चाहता पर इतना मैं अवश्य कहूंगा कि इन यात्रा हिन्दुओं में से बहुतों ने मुझे प्रणीत सिद्ध होते हैं। उपहारगृह के बटलर ने मेरा विज्ञप्त वेपभूषा को देखकर भी जब लजापूर्वक मुझे कुर्निसात किया तो उसे मैंने भी बख्शीश दी। कुछ ही देर में हम फिर आकाशमार्गी हो गये।

बम्बई से अहमदाबाद तक व्यवस्था यह थी कि एक ओर जमीन, दूसरी ओर समुद्र और हम आकाश में। अब एक दृष्टि से चारों पाश्वर्कों में जमीन तो एक दृष्टि से आठों दिशाओं में अनन्त आकाश—यह अवस्था हो गई! अवली के जैसे बड़े-बड़े पर्वत, दिवाली के दिनो में किले के नजदीक छोटे-छोटे बच्चे जिस प्रकार पहाड़ियों का रन करते हैं वैसे दिखाई देते थे। राजपूताने के गांवों का ढब कुछ भिन्न प्रकार का था। बहुत से गांवों में बड़े-बड़े तालाब नजर आते थे। दायें हाथ की ओर से उदयपुर पल्ले छोड़कर हम आगे बढ़ रहे थे। उदयपुर को मैंने बहुत बार देखा है इसलिए उसे देखने पर अनेक बातें हठात् ध्यान में आ गईं। कुछ ही क्षणों में हम जयपुर पहुंच गये। मतलब जयपुर नगर के ऊपर के अंत रत्न में आ गये। रेखाबद्ध एवं सुन्दर गलीचा जिस प्रकार प्रतीत होता है। वैसे यह जयपुर शहर अन्तरिक्ष से देखने पर प्रतीत होता है। हमारा विमान पलकों ही पलकों में प्रति घण्टे १७५ मील के वेग से दिल्ली की ओर झपटता चला जा रहा था।

दिल्ली की परिचित वस्तुएँ दिखाई देने लगी। वह पुराना किला, वह कुतुबमीनार व सेक्रेटारियट की इमारत, वह सभागृह धीमे-धीमे दिखाई देने लगा। प्राचीन वैभव तथा वीरकृतियों वाले शहरों को हम पल्ले छोड़ आये थे। आधुनिक जग को हम समीप कर रहे थे। राजपूतों के वैयक्तिक शौर्य की कथाएँ आज इतिहास की वस्तुये रह गई हैं, उन्हीं शूर राजाओं के वशज घोड़ों का उपयोग युद्धकालिक आक्रमण-कार्य के लिए न करके रेस (घुड़दौड़) के लिए करने लग गये हैं। जिन लोगों ने कभी प्रातिज्ञा की थी कि दिल्ली को जीते बगैर हम सोने के थालों में भोजन नहीं करेंगे, कोमल शय्या पर नहीं सोयेंगे, वही लांग आज दिल्ली की प्रचलित राज-सत्ता के गुलाम बने हुये हैं। उनके राजमहल भी वाइसराय के राजमहल के

आस-पास बस गये । तलवार की खनखनाहट की जगह प्रस्तावों पर संशोधनों और उपसंशोधनों की आवाज ही आज यहां सुनाई देती है । राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की आकांक्षाओं के स्थान पर आज किस जाति को कितनी नौकरियां मिलती हैं, इसी का ऊहापोह रातदिन चलता रहता है । अपने सिरों को अपने हाथ की तलवार ही से काटकर रमातृभूमि के चरणों पर भेंट चढ़ाने की अहमहमिका के स्थान पर आज लोगों की अहमहमिका इस बात में है कि कौन गुलामी में बाजी मार ले जाता है । यह सब कुछ करते हुए भी इस बात का एक अहंकार उसी प्रकार बना हुआ है कि, हम जो कुछ करते हैं सब बिलकुल ठीक ही करते हैं । मराठों के पूर्वज दिल्ली को जीतने के लिये आये थे, सुलहनामे करने के लिए आये थे 'शापादपि शरादपि' के न्याय से दिल्ली के सिंहासन पर बैठने या उसके टुकड़े-टुकड़े करने के लिए आये थे, पर आज के उन्हीं के वंशज यहाँ किस लिए आये थे ?—यह प्रार्थना करने के लिए कि तीन पैसे के कार्ड की कीमत कम करके दो पैसे कर दी जाय ।

जब मैं दस हजार फुट की ऊंचाई पर से नीचे उतर रहा था उस समय मेरे मस्तिष्क में इस प्रकार के अनेक विचार घूम रहे थे । विमान जमीन पर आया, मन के अन्तर्गत विचारों ने वस्तुस्थिति का ज्ञान करा दिया और मैं समझता हूँ, डेढ़ सौ रुपये खर्च करके किये गये इस प्रवास का इतना फायदा भी क्या कम है ?

क्या हमें भी मताधिकार रहेगा ?

अर्धनग्न, अधपेट, पूर्ण अज्ञानी, पूर्णतया निराश इत्यादि स्वरूप का वर्णन जिस प्रदेश के खेतिहरों के संबंध में किया जा सकता है, अब से ठीक चौबीस घंटे पहले मैं उस प्रदेश में था और लगभग यही-का-यही वर्णन आज से तीस वर्ष पूर्व की रूस की परिस्थिति के लिए भी उपयुक्त बैठता है।

“इस अवनत, असंगठित अवस्था में से आज का प्रभावी एवं पराक्रमी रूस किस प्रकार निर्मित हुआ ? दीन एवं दुर्बल खेतिहर तीस वर्षों में मानी और स्वाभिमानी कैसे बन गया ? नादान और अज्ञानी अन्धश्रद्धा और मूर्खतापूर्ण धारणाओं का दास आज पुरोगामी और प्रगतिप्रिय कैसे हो गया; रूस के साफल्य का रहस्य किस बात में है ? यह ज़ादू किसने कर दिखाया है ?” ये शब्द २२ फरवरी के दिन लाल सैन्य के वार्षिक दिवस के निमित्त बम्बई में आयोजित सभा के अव्यक्त-पद से दिये गये भाषण के प्रारम्भ में मेरे मुंह से निकले।

यह समारम्भ कामा इन्स्टिट्यूट हाल में हो रहा था। सैकड़ों नागरिक उस सभा में उपस्थित थे। विशेष महत्व की बात यह कि इस सभा में ब्रिटिश सैनिक और नाविक दल के सैनिक भी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। सोवियट मित्र संघ की ओर से यह समारम्भ किया जा रहा था। इस संघ के बारे में लोगों की राय यह थी कि यह साम्यवादी लोगों के रंगरूट भर्ती करने का एक प्रधान साधन है। सोवियट तत्वज्ञान के संबंध में पूर्णतया सहमत न होते हुए भी ऐसा मानने वालों की संख्या कम नहीं है जो उसके ग्राह्यांश को स्वीकार करने के लिए तय्यार हैं।

साम्यवादियों की देश-सेवा

भारतीय साम्यवादियों ने '४२ के आंदोलनकाल में जो भूमिका स्वीकार की थी, उनके नेताओं ने जो वक्तव्य प्रकाशित किये थे, उस पक्ष के सभासदों ने जो देश-सेवा की थी, उसके कारण कांग्रेस के सर्व-सामान्य कार्यकर्तागण बुरी तरह बिगड़े हुए थे। किन्हीं-किन्हीं कार्यकर्ताओं को सभाओं में साम्यवादी पक्ष का तथा कार्यकर्ताओं का किसी भी अवस्था में साथ न देने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये जा चुके थे। कुछ कार्यकर्ता तो कहते थे कि कम्युनिस्टों के साथ किसी प्रकार का सामाजिक संबंध भी न रखा जाय। इन सारी प्रवृत्तियों एवं मतप्रणालियों का प्रतिबन्ध महाराष्ट्र की राजनीति पर भी पड़ा था। यह होते हुए भी इस समारम्भ का अध्यक्ष-पद मैंने जो मंजूर किया था, वह पूर्ण विचार तथा अपने माथियों की सलाह लेने के बाद ही किया था। इस मौके का पूरा फायदा उठाते हुए मैंने यह प्रदर्शित करने का निश्चय किया था कि साम्यवादियों की "लोकयुद्ध" की भूमिका कितनी अशुद्ध है। साम्यवादी पक्ष ने देश के तथा कांग्रेस के विरुद्ध जो सबसे बड़ा अपराध किया था, वह उनका इस मौजूरा युद्ध को "लोकयुद्ध" कहकर उसे नैतिक पृष्ठपोषण प्रदान

करना था । इस पक्ष ने प्रत्यक्ष युद्ध में भले ही भाग न लिया हो, उसने रंगरूटों की भर्ती न की हो, अन्य सब बातों में उसने कांग्रेस की ही बात मानी हो, राष्ट्रीय सरकार की मांग, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, नेताओं की रिहाई आदि के बारे में उसने भले ही निष्ठापूर्वक आंदोलन किया हो तथापि इन कारणों से उसके उपयुक्त पापों का प्रक्षालन हो गया, ऐसा मानने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था । इसलिए जेल से छूटकर आने के पश्चात् मैं उनसे असहयोग न करके जब भी कभी मुझे मौका मिलता मैं इस बात का स्पष्टीकरण किया करता था कि उनकी यह “लोकयुद्ध” की कल्पना अशुद्ध है । उन लोगों की कदाचित् मेरे बारे में यह धारणा रही हो कि समारम्भ के लिए आमंत्रित यह मेहमान हमारे विरुद्ध क्या भाषण देगा ? सोवियट सैन्य के समारम्भ अवसर पर उन्हें एक कांग्रेस न की आवश्यकता थी । मुझे बम्बई की सयानी जनता के सामने कांग्रेस की युद्ध-विषयक नीति का खुले तौर पर स्पष्टीकरण भी करना था ।

रूस की सफलता का रहस्य

उपस्थित जनसमुदाय में बम्बई के सब पक्षों के लोग तो ये ही पर उसमें, अधिक महत्व की बात यह थी कि, लगभग सौ के करीब ब्रिटिश सैनिक भी थे । इसे ध्यान में रखते हुए मैंने कहा, शास्त्रास्त्रों की अपेक्षा दृढ़ता ही सफलता की सबसे श्रेष्ठ मनोवृत्ति है । इस मनोवृत्ति के तैयार होने के लिए देश के जीवन की अनुरूपता का होना आवश्यक होता है । फ्रांस ने शरणागति स्वीकार कर ली पर फ्रांस की अपेक्षा भी कई गुना अधिक जोर का हमला होने पर भी रूस ने हार नहीं मानी । उसकी इच्छाशक्ति अवनत नहीं हुई, उसकी गर्दन नहीं झुकी । इसके रहस्य को हमें जानने की कोशिश करनी चाहिए । लड़ने वाले प्रत्येक सैनिक को, राष्ट्रवादी प्रत्येक नागरिक को, इस बात की प्रतीति रहती है कि देश उसका अपना है । राष्ट्र की

संपत्ति का निर्माण उसी ने किया है। इस बात का अभिमान तथा उसका बटवारा न्याय के अनुसार होगा ऐसा अनुभव एवं विश्वास उसे रहता है। राज्य जनता का है और वह वास्तव में जनता ही के लिए है। इस बात का विश्वास ही रूसी सेना के पराक्रम का कारण है। देश पर आक्रमण होने से सामान्य जनता दुर्दशा को प्राप्त होगी, देश की विजय होने से सामान्य जनता की ही उसमें विजय है, यह समीकरण वहाँ पर विद्यमान है। अतः उस देश के लिए वह लोकयुद्ध है। वहाँ कोई यह घोषणा करके सैनिकों की भर्ती नहीं करता कि तुम्हें १६ रुपया पगार (वेतन) तथा खाना और कपड़ा-लत्ता मुफ्त में दिया जायगा इसलिए फौज में भर्ती हो जाओ। अपने देश में इ “लोकयुद्ध” का नाम देना हास्यास्पद ही है। इस प्रचलित युद्ध को यदि उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों की कसोटियों पर कस कर देखा जाय तो भारत की दृष्टि से इसे लोकयुद्ध नहीं कहा जा सकता। युद्ध की घोषणा करते समय जनता से सम्मति नहीं ली गई। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जनता की अज्ञात ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का पाश ही मजबूत होने वाला है। भारत को यदि तत्काल स्वातन्त्र्य दे दिया जाय अथवा वह पूर्ण लोकसत्तात्मक हो तो भारतवर्ष की जनता रूसी जनता के समान युद्ध में भाग लेगी, शालीवाहन की तरह यह स्वातन्त्र्य भी अवसर पड़ने पर मिट्टी में से सैनिकों का निर्माण करेगा। यह कीमिया स्वातन्त्र्य का अमृत ही निर्माण करेगा। आज भी चर्चिल साहब कहते हैं कि जो वस्तु हमारी है हम उसे कदापि नहीं छोड़ेंगे। ऐसी अवस्था में युद्ध के अनन्तर भारत को स्वातन्त्र्य मिल ही जायगा इसे किस मुँह से युक्तियुक्त कहा जा सकता है। चर्चिल साहब तो यह भी नहीं चाहते कि नवीन इंग्लैंड का निर्माण हो। जिस इंग्लैंड में पैसठ प्रतिशत जमीन आठ प्रतिशत लोगों के हाथ में है, जहाँ वार्षिक आय का अस्सी प्रतिशत भाग

पन्द्रह प्रतिशत लोगों को मिलता है, ऐसे इंग्लैंड को बनाये रखने के लिए चर्चिल साहब श्रम धर्म और अश्रु का व्यय करने के लिए तैयार हैं। प्रिमरोज इंग्लैंड की, डबॉ में भाग लेने वाले इंग्लैंड की अर्थात् एक दृष्टि से सामाजिक विषमता से युक्त इंग्लैंड की रक्षा चर्चिल साहब को करनी है। स्वातन्त्र्य के मिलने पर तथा वास्तविक अर्थों में जनता का स्वातन्त्र्य मिलने पर अर्थात् जनता को यदि यह पूर्ण विश्वास हो जाय कि युद्ध के अनन्तर आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना अवश्य होगी तो इंग्लैंड की जनता अधिक उत्साह से युद्ध में भाग लेगी ऐसी युक्ति वहां के लोकनेताओं की है। यहां यदि इस प्रकार का स्वातन्त्र्य मिल जाय तो हमारे मामा (मुझ से पूर्व मामा वरेरकर का भाषण हुआ था) भी शेलार-मामा (मामा वरेरकर एक साहित्यिक हैं। शेलार मामा एक बड़ा वीर शिवाजी के समय में था।) की तरह लड़ने के लिए तैयार हो जायेंगे। पूंजीवाद के लिए, साम्राज्यवाद के लिए, सोलह रुपयों के लिये जनता नहीं लड़ेगी। और जनता की जब तक यह मनोदशा है तब तक इस युद्ध को 'लोकयुद्ध' नहीं कहा जा सकता।

ब्रिटिश राज्य नहीं चाहिए

भाषण के समय चर्चिल के विरुद्ध की गई वाक्-क्रीड़ा ब्रिटिश सैनिकों का विशेष रुचिकर प्रतीत हुई-सी दृष्टिगत होती थी। कांग्रेसी जनता प्रसन्न दृष्टिगत होती थी। साम्यवादी मित्र कुछ पशोपेश में पड़े हुए-से दिखाई देते थे। "पराक्रमी रूसी फौजों का हिटलरी जर्मनी का नाश करके बर्लिन पर लाल झंडा फहरा देने से ही काम पूरा नहीं होगा। जब साम्यवादी आदर्शों की जीत होगी और जब चर्चिली इंग्लैंड का पराभव होगा तभी सच्ची सभ्यता का झंडा खड़ा किया जा सकेगा और तभी युद्ध की समाप्ति होगी अथवा सच्ची विश्वशांति का प्रारम्भ होगा। मेरे भाषण समाप्त करते ही सभा के समस्त वातावरण में एक प्रकार का विचित्र परिवर्तन उपास्थित हो

गया। प्लेटफाम से नीचे उतरने पर दस-बारह ब्रिटिश सैनिक मेरे चारों तरफ जमा हो गये और उनमें से एक ने मेरा अभिनन्दन करते हुए कहा, “आपका व्याख्यान सुन्दर (ब्यूटिफुल) रहा।”

मैंने कहा—“यह तो कुछ नहीं कहा जा सकता, हां कुछ लडमार (ब्लंट) अवश्य हुआ है।”

एक ने पूछा—“हम सैनिक लांग आपके देश के लिए क्या करें?”

इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं था। पर देना आवश्यक था। मैंने कहा—“जब आप अपने देश में जायेंगे, तब अपने देशबन्धुओं से कहियेगा कि भारत को ब्रिटिश राज्य नहीं चाहिए। चुनाव के समय उसी उम्मीदवार को वोट दीजिए जो भारतीय स्वातन्त्र्य का पक्ष-पोषण करता हो, तथा जो भारत के स्वातन्त्र्य के लिए कटिबद्ध हो।”

एक-दम पांच-छह लोगों ने प्रश्न किया, “शैल वी हैव वोट्स एट आल?” (क्या हमें मताधिकार होगा ?) पर मेरे पास इस प्रश्न के लिए कोई उत्तर नहीं था।

किसका श्रम और किसको आराम ?

जिन सैनिकों ने अपने जीवन को तृणवत् समझा, घरबार छोड़कर जो विश्व की अनेक सीमा तक चले गये और जो मृत्यु से अखंड रूप में भगड़ते रहे उन सैनिकों को अपने देश का भविष्य रेखांकित करने का कुछ भी अधिकार न रहे यह बात क्या है ? देश के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय भावना को जागरित करने वाला पूंजीपति वर्ग तथा उसके पोष्य लोकनेता संकट के समाप्त होने पर पुनः पूर्वपद पर चले जायेंगे क्या ? किसका श्रम और किसको आराम ? कौन मरे और किसकी स्वार्थसिद्धि हो ? चर्चिल की युद्धकालीन घोषणाओं को स्वयं उसके देश-बांधव सत्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं, यही अर्थ हुआ न ? दो राष्ट्रों की जनता में किसी

प्रकार का वैरभाव न रहने पर भी सामान्य मनुष्य असामान्य उत्साह के साथ युद्ध में भाग लेकर फिर एक बार धोखा खा जायेंगे, यही इसका अर्थ हुआ न ? जो लड़ा, जिसने श्रम किया उसे कुछ भी अधिकार नहीं ! इसका यही अर्थ हुआ कि दुनियाँ में कृतज्ञता नाम की कोई वस्तु नहीं है । और मेरे दिमाग में जब इस प्रकार के ख्याल आ रहे थे उस वक्त गत युद्ध के विजय के अनन्तर अर्धराष्ट्रीय निर्वाचन के लिए खड़े हुए तथा पराजित हुए फ्रेंच राजनीतिज्ञ क्लेमनको के शब्द स्मरण हो आये । गत युद्ध में विजय का कारण वही था, यह सब कोई मानता था । पर युद्ध के अनन्तर निर्वाचन में असफल हो जाने पर इंग्लिश पन्त प्रधान लाइड जार्ज ने उस से कहा—“क्या यही देश की कृतज्ञता है ?” इस पर क्लेमनको ने उत्तर देते हुए कहा—“माई फ्रैंड देयर इज़ नो ग्रिटिग्यूड इन पालटिक्स (प्रिय मित्र, राजनीति में कृतज्ञता के लिए कोई स्थान नहीं है) और जुलाई मास में निर्वाचन करवा कर चर्चिल ने भी क्लेमनको के सिद्धांत ही की पुष्टि की थी । लाखों लोगों को वंचित किया गया था और राजनीति में चलता भी यही है । जो निष्ठावान् होते हैं वे बेचारे वाम आ जाते हैं । जो धोखेवाज होते हैं, कार्यसाधू होते हैं वे काम बना जाते हैं । “हनुमान को तेल और विभीषण को लंका” यह राजनीति का सिद्धांत तो बहुत पुराने ज़माने से चला आ ही रहा है ।

काश, हम मानवता का सम्मान करते !

“इस प्रकार आप भीतर घुस आये हैं, आपको शर्म नहीं आती ?”

“बहुत अधिक आती है, पर चूंकि सार्वजनिक काम का महत्व भी उतना ही अधिक है इसीलिए मुझे इस प्रकार भीतर घुसना पड़ा।”

यह बातचीत ५ मई १९४६ की आधी रात को करहाड स्टेशन पर खड़ी हुई मेल ट्रेन के सैकन्ड क्लास के एक डिब्बे में हुई। उस दिन करहाड में बहुत बड़ा जन-समुदाय एकत्र हुआ था। कृष्णा और कोयना के संगम पर जनता और कृषि-कार्यकर्ताओं का संगम हुआ था। दो-अढ़ाई वर्षों के अज्ञातवास में से तप और दमक कर निकले हुए, जनता के तथा ६३ धारायी सरकार के अनेक कार्यकर्ता वहां प्रकट होने वाले थे। उनका सत्कार वहां होने जा रहा था। नदी के किनारे करहाड के नागरिकों ने समारम्भ की व्यवस्था कुछ ऐसी कर रखी थी कि उसे देखकर लगता था मानों

वहाँ कोई छोटा-मोटा कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा हो। भारीजन-समुदाय की उपस्थिति के कारण कुछ अव्यवस्था भी थी। पांडु मास्टर जब बोलने के लिए खड़े हुए तो एकाएक दूरध्वनिक्षेपक की आवाज़ ही खत्म हो गई। कदाचित् उसे ऐसा प्रतीत हुआ हो कि पांडु मास्टर की आवाज़ सुनकर भीड़-भड़का और ज्यादा बढ़ जायेगा। या पांडु मास्टर की उपस्थिति का ज्ञान पुलिसवालों को हो जायेगा, कदाचित् इस भय के कारण उस यंत्र ने मुंह बन्द कर लिया हो। जो कुछ भी हो, रात के दस बजे तक सभा का कार्य चलता रहा।

सभा की समाप्ति के पश्चात् मुझे पूने की ओर लौटने की जल्दी थी, इसलिए मैं कर्हाड स्टेशन पर आ गया था। उस ऐतिहासिक सभा के अध्यक्ष-पद पर अभिमानपूर्वक विराजमान हुआ मैं एक यात्री के अपमानास्पद प्रश्न का इतनी शान्ति से उत्तर दे रहा था, यह मुझे आज भी सत्य नहीं प्रतीत होता। मेरे अतिरिक्त अन्य सैकड़ों लोग सभा का काम समाप्त करके अपने-अपने गांव की ओर जाने के लिए स्टेशन पर आये हुए थे। स्टेशन के अधिकारी ने मुझे इस भरोसे पर टिकट बनाकर दिया था कि कदाचित् सेकन्ड क्लास के डिब्बे में जगह मिल जायेगी। इतना ही नहीं अंगद-नीति का अवलम्बन करने का, अर्थात् खिड़की के रास्ते डिब्बे में घुसने का जो पराक्रम मैंने उस समय प्रदर्शित किया था, उसका सारा श्रेय उन्हा अधिकारी महोदय को था। दो-तीन मिनिट तक मैं उनके साथ इधर-उधर डिब्बों में जगह तलाशता रहा। मेरे साथ कितने ही अन्य कार्यकर्ता भी थे। जब कहाँ जगह न मिली तब मैंने एक डिब्बे में नीचे थोड़ी-सी जगह खाली देखकर उसमें घुसने का प्रयत्न किया। मगर डिब्बे में बैठे हुए यात्रियों ने अन्दर से बुरी तरह दरवाजा बन्द कर रखा था। जब मैंने देखा कि उन लोगों ने दरवाजा न खोलने की कसम खा रखी है तब मुझे

खिड़की के रास्ते डिब्बे के भीतर घुसने के लिए लाचार होना पड़ा। वह डिब्बा प्लेटफार्म से कुछ हट कर था। मैं बिल्कुल सच कहता हूँ कि मुझे कार्यकर्ताओं के कन्धों पर सवार होकर खिड़की के रास्ते डिब्बे के भीतर प्रवेश करना पड़ा। मेरे पैर ज्योंही फर्श पर पड़े त्योंही एकदम शत्रुपक्ष ने मुझे चारों ओर से घेर लिया नीचे तीन और ऊपर तीन, इस प्रकार सोये हुए छहों के छहों यात्री उठकर तथा हड़बड़ाकर ऐसे खड़े हो गये मानों उनके जीवन और वित्त पर कोई भारी संकट आ खड़ा हुआ हो। उन लोगों ने मोर्चा ठानने के लिए पूरी तरह से कमर कस ली थी। रोमेल ने अगर चाहा भी होता तो वह इतना सफल व्यूह न रच पाता। सुदैव की बात इतनी ही थी कि वे सारे शस्त्रविहीन थे। फिर भी वे मेरे विरुद्ध संगठित हो गए थे। तीसरे दर्जे की भीड़ का मुझे पूरा अनुभव था। उस दर्जे के यात्रियों की मनोवृत्ति का मुझे पूर्ण ज्ञान है। अन्दर जाते समय वे कितना भी विरोध क्यों न करें, पर अन्दर चले जाने के बाद उनका यह भाव लुप्त हो जाता है और बर्तन में भरा हुआ अनाज जिस प्रकार हिलाने से नीचे बैठ जाता है उसी प्रकार गाड़ी के चलने पर सब लोग एक-दूसरे के लिए यथाशक्ति सुविधा कर देते हैं। कारण उस दर्जे में मानवता का लोप नहीं हुआ होता। वहाँ सही माने में भीड़ होने पर भी जगह मिल जाती है। पर यहां भरपूर जगह रहने पर भी भीड़-भड़क के की शिकायत बनी हुई थी।

“यह सारी जगह रिजर्व है,” उनमें से एक ने ज़रा अकड़ कर कहा।

“हां, मुझे इसका ज्ञान है,” मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

“आपका सामान हम उठाकर फेंक देंगे।”

“कीमती चीज तो मेरे पास कुछ है ही नहीं, अकेला मैं और मेरा सौजन्य, यही मेरा सामान है। इसमें से एक को आप नहीं फेंक पायेंगे और

दूसरे को मैं नहीं फेंक सकूँगा ।”

यह सारा सवाल-जवाब अंग्रेज़ी में हो रहा था और इच्छा न रहते हुए भी मुझे अंग्रेज़ी बोलनी पड़ रही थी । वे लोग तैश में आकर बोल रहे थे, मैं सर्वदा शान्ति भाव से उत्तर देता जा रहा था । अभिमन्यु की नीति का अवलम्बन करने का वह मौका नहीं था । पुनश्च, अभिमन्यु की और मेरी उम्र में भी तो कोई साम्य नहीं था । अतः मैं युधिष्ठिर की-सी शान्त-वृत्ति धारण करने के प्रयत्न में था । इस हिसा और अहिंसा की मुठभेड़ में जो पहले आहत हुआ वह एक स्त्री थी, जो उन यात्रियों के साथ यात्रा कर रही थी । वह माई तो चुप बर्त पर जाकर पड़ रही और मुँह पर ओढ़नी ढंककर उसने बाह्य सृष्टि को अपनी दृष्टि से ओभल कर दिया उनमें से एक ने मुझे धमकी देते हुए कहा—“अभी स्टेशन मास्टर से कहकर मैं आपको बाहर निकलवा देता हूँ ।”

“जिसने मुझे यहां लाकर पहुंचाया है वह मुझे यहां से काहे को बाहर निकालेगा ?” मैंने आत्मविश्वास के साथ कहा ।

इस पर उनमें से एक ने मेरी अक्ल पर कुछ छोटें कसे । पर मैंने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा—“मैं बहुत ज्यादा अक्लमन्दी का दावा नहीं करता । महत्वपूर्ण सार्वजनिक काम आ पड़ा है, इसलिए मेरे लिए जाना अनिवार्य है । जो कुछ मैं कर रहा हूँ वह गलत है यह मैं जानता हूँ, पर वैसा करने के लिए कारण भी इतने ही प्रबल हैं । इसीलिए मुझे ऐसा करना पड़ रहा है ।”

इसके बाद एक दूसरा विरोधी योद्धा भी धराशायी हो गया । ऊपर बर्त से जो महानुभाव छलांग मारकर नीचे आ धमके थे वह उतनी ही क्षणलता के साथ ऊपर चले गए । बचे हुए लोगों में एक मियां भाई भी थे जिनकी परिचायिका आकृति स्पष्ट रूप से उनके अहं विशेष भाव पर

प्रकाश डाल रही थी। उन्होंने अपनी “खास” अंग्रेज़ी में बोलना शुरू किया और कहा, “मैं जंजीर खींच लूँगा।

मैंने कहा—“आपके जंजीर खींच देने से इतना ही होगा कि गाड़ी खड़ी हो जायेगी, पर यह भी आप देख लेंगे कि जब तक मुझे गाड़ी में ले नहीं लेंगे तब तक मुझे विदा देने आए हुए लोग इस गाड़ी को एक इंच भी आगे नहीं बढ़ने देंगे।”

मियां भाई ने एक बार अपने सिर पर और फिर अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा। ऐसा मालूम पड़ा कि वह कदाचित् ‘डायरेक्ट ऐक्शन’ की स्फूर्ति की प्रतीक्षा में हैं। इतने में स्टेशन के अधिकारी ने जोर से उनसे पूछा—“आप जानते हैं यह कौन हैं ?” पर बीच ही में उनकी बात काटकर मैंने कहा—“नाम बताने की आवश्यकता नहीं। मैं इनका एक मित्र हूँ और इनके साथ आनन्द से यात्रा करने वाला सहायत्री हूँ।”

गाड़ी चल पड़ी। प्लेटफार्म पर चिरपरिचित जयघोष हो रहे थे। दो बेंचों के बीच, मैं और वह मुसलमान सज्जन एक-दूसरे के ग्रामने-सामने खड़े थे। शेष सारे योद्धा अपने-अपने शिविर में अर्थात् बर्थ पर जाकर लेट चुके थे। गाड़ी प्लेटफार्म से बहुत आगे बढ़ गई और ओगलेवाड़ी के दियों को हमने पीछे छोड़ दिया; परन्तु मेरे मित्र ने जंजीर नहीं खींची। अन्य किसी प्रकार की कोई चेष्टा भी उन्होंने नहीं की और एक-दो मिनिट में वह ऊपर अपनी बर्थ पर जाकर सो रहे। इसके पश्चात् मैं बहुत देर तक इस घटना के बारे में विचार करता हुआ, दो बेंचों के बीच अपनी कमली बिछाये बैठा रहा। अगस्त १९४४ में जेल से छूटकर आने के पश्चात् कुर्छवाड़ी जंक्शन पर हुई एक घटना मेरी आंखों के सामने दौड़ गई। कुर्छवाड़ी स्टेशन पर मद्रास मेल खड़ी हुई। उस समय हम लोग डिब्बे में नियत संख्या से कोई दो गुना अधिक संख्या में थे। गाड़ी के

रुकते ही दस-बारह बडर स्त्रियां (पत्थर का काम करने वाली स्त्रियां) अपने साथ छोटे-छोटे बच्चे और विविध आकारों तथा रंगों वाली गठरियां लिए अन्दर प्रविष्ट हुई और उन्होंने हमारे डिब्बे को 'ब्लैक होल' का रूप प्रदान किया । मैंने खिड़की में से बाहर खड़े हुए एक सिपाही को बुलाया और उससे टिकट-कलेक्टर को भेज देने के लिए कहा । उसने कहा- 'काका साहेब, यह आपकी प्रजा है, गत दो दिनों से जगह न मिलने के कारण ये वहीं रुके हुए थे, फिर भी आप चाहते हैं तो मैं टिकट-कलेक्टर को बुला लाऊंगा ।' वह मुझे पहचानता था, यह तो जाहिर ही हो गया, पर साथ ही साथ उसने मेरे कर्तव्य के बारे में इतने मार्मिक शब्दों में संकेत किया कि मेरी आंख खुल गई । मैंने उससे टिकट कलेक्टर को न बुलाने के लिए कहकर तत्काल डिब्बे को सभा-भवन का रूप दिया तथा तत्रस्थ मित्र मण्डली से निवेदन किया कि वे बारी-बारी से खड़े हों और स्त्रियों के लिए जगह कर दें । उसे सब ने मान लिया तथा इस प्रकार हम सभी यात्रियों ने भ्रातृभावपूर्वक प्रवास किया । यदि हमने केवल अधिकार की ही बुद्धि से काम लिया होता तो उन स्त्रियों को बाहर निकाल देना मुश्किल नहीं था । उससे हमारा प्रवास क्षण भर एवं कणभर अधिक सुविधापूर्ण हो गया होता । परन्तु उससे हम एक उच्च कोटि के आनन्द से वंचित ही रह गए होते । उस घटना की आज की इस घटना से तुलना करते हुए तथा तदुद्भूत अनेक विचार तरंगों से हिलोलित होते हुए अंततः मैं उस सेकंड क्लास के डिब्बे की दो बेंचों के बीच बिल्ली हुई अपनी कमली पर सो रहा ।

प्रातःकाल आंख खुलने पर उन यात्रियों में से एक ने अपने आप मुझसे बर्थ पर बैठने की प्रार्थना की तथा अत्यन्त नम्र स्वर से मेरा नाम पूछा । अब पूरी तरह से पौ फट चुकी थी । डिब्बे में चारों तरफ नजर

दौड़ाने से मालूम पड़ा कि उनमें एक मारवाड़ी जोड़ा यात्रा कर रहा था। उनके अतिरिक्त एक मद्रासी और एक पारसी सज्जन थे। एक हमारे मुसलमान भाई थे तथा छठे महानुभाव प्रातर्विधि के लिये गए हुए हैं ऐसा मालूम हुआ। पारसी ने ही मुझे जगह देकर मेरा नाम पूछा था।

मैंने कहा—“नाम से आप क्या कीजियेगा ? आपके समान ही मैं भी एक यात्री हूँ। समुद्र में बहती हुई दो लकड़ियाँ जिस प्रकार एक जगह चली आती हैं और दूर हो जाती हैं उसी प्रकार हम भी आध पौन घंटे में एक दूसरे से अलग होने वाले हैं।”

पारसी ने कहा—“जिस शान्ति एवं सम्यवृत्ति से आप कल व्यवहार कर रहे थे उससे प्रतीत होता है कि आप कोई बड़े आदमी हैं।”

मैंने कहा—“शांति एवं सम्यता सदैव बड़प्पन के परिचायक होते हैं ऐसी बात नहीं है। ये बातें इतनी सस्ती हैं कि बगैर किसी कीमत के हर कोई व्यक्ति इनको काम में ला सकता है।”

हम लोगो की ये बातें चल ही रही थीं कि छठे सज्जन भी प्रातर्विधि में निवृत्त होकर बाहर आ गये, उन्होंने तत्काल “काका साहेब, आप इधर किधर ?” कहकर मुझे नमस्कार किया।

मैंने कहा—“मैं तो कर्हाड से इसी डिब्बे में हूँ।”

वह सज्जन, जो कर्नाटक के एक बड़े नेता के सुपुत्र थे, बोले—“अच्छा, तब आपने मुझे कल क्यों नहीं बतलाया ? आपको जगह देकर स्वयं नीचे आ गया होता मैं।”

उसने वैसा किया होता इसमें मुझे किसी प्रवार का संदेह नहीं था। बत्ती के धुँधले प्रकाश में उसने मुझे पहचाना नहीं यह भी सत्य ही होगा। मैंने कहा—“तू तरुण है, विश्रान्ति की तुझे अधिक आवश्यकता है। मैं नीचे सोया इसमें मुझे वह नींद नहीं आई, यह बात थोड़े ही है ?”

इसके बाद मैंने सब यात्रियों को बतला दिया कि मैं कौन हूँ । तत्काल सब लोगों ने खेद व्यक्त करना आरम्भ कर दिया । “आपने अपना नाम बतला दिया होता तो आपकी संगति का लाभ हमें प्राप्त हुआ होता । आपने नाम न बतला कर अच्छा नहीं किया ।”

पारसी सज्जन ने, जो बेलगाँव के एक बहुत बड़े व्यापारी थे तथा बम्बई के एक बड़े नेता के सम्बन्धी थे, मेरे नाम न बताने के विषय में अनेक मर्तबा खेद प्रदर्शित किया । उन्होंने बताया कि बम्बई वाले सज्जन ने उन्हें बतलाया था कि मेरे बारे में लोगों की राय बहुत अच्छी है । अंत में जिस उत्तर को देने अथवा न देने के बारे में बहुत देर से सोच रहा था उसका उचित समय आया जानकर मैंने उनसे कहा—“मैंने नाम बता दिया होता तो आप लोगों ने मुझे जगह दे दी होती, मेरा सम्मान किया होता । पर सम्मान हुआ होता मेरी पदवी का तथा मेरे प्रतिष्ठित जीवन का, परन्तु मनुष्यता का सम्मान न हुआ होता । आपमें और मुझमें जो वस्तु समान है वह है मानवता । वह मानवता अपमानित हुई । मुझे इसी बात का खेद है ।”

पूना स्टेशन आया । हम सभी नीचे उतरे । मेरे पास सामान क्या था; एक चमड़े की पेटी भर ! उसके उठाने के लिए हिन्दू, मुसलमान और पारसी सभी में होड़-सी ठन गई । पर मैं किसी को भी इस बात का सम्मान देने के लिए तैयार न था । सबके ‘नमस्कार’ में तथा ‘आलेकुम सलाम’ में सत्य और सभ्यता की विजय किस प्रकार सुखदायी एवं चिरस्थायी होती है, इसका विचार करते हुए मैं स्टेशन से बाहर चला गया ।

कवाड़ी बाजार में 'लोकतन्त्र'

पूना शहर अनेक बातों की तरह अपने 'कवाड़ी बाजार' के लिए भी प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक अनुसंधान कार्य से लेकर १९४४ तक के अनेक प्रकार के आंदोलनों के लिए पूना की जैसी और जितनी प्रसिद्धि है, लगभग उतनी ही कवाड़ी बाजार के लिए भी है। सन् १९२४ से १९२५ तक यह कवाड़ी बाजार हफ्ते में दो मर्तबा शनिवार वाड़े के सामने तथा बगल में लगा करता था। आजकल कुछ बरसों से वह मुठा नदी के परली पार लगा करता है। पर इस स्थान-परिवर्तन से उसके महत्व में कुछ भी कमी नहीं हुई है। पहले की तरह आज भी उसका विविधता से भरा हुआ विचित्र स्वरूप कायम है। मराठी में इसे 'जुना बाजार' कहते हैं। जुना बाजार का अर्थ है पुराना बाजार जिसका साधारणतया लोग यही मतलब लेंगे कि वहाँ सब पुरानी-धुरानी चीजें ही बिक्री के लिए रखी जाती होंगी। पर पहले वहाँ कितनी ही नई वस्तुएँ भी बिक्री के लिए आया करती थीं। पहले की भाँति ही वहाँ बूढ़े लोग नई-पुरानी वस्तुओं की खोज में आया करते थे, यह सोचकर कि यहाँ सस्ते में मिल जायेंगी।

एक पैसे के लिए एक घण्टे तक घिसघिस करने की अपनी पुरानी आदत अभी उन लोगों ने छोड़ी नहीं, ऐसा नज़र आता है। आज भी साधारण-तया उपयोग में लाई गई चीज को थोड़ा-बहुत नया रंग देकर इस बाजार में नई वस्तु के नाम से बेचा जाता है। आज के साहित्यिक लोग भी कम अधिक पैमाने पर यही किया करते हैं, पर उन्हें कोई कुछ नहीं कहता। इसके विपरीत, जो वस्तु नवीन बनाकर छापी जाती है उसे नवीन समझ कर ही उसकी प्रशंसा और प्रशंसा की जाती है। राजनीतिक क्षेत्र में भी यही होता है। पुरानी-पुरानी गलतियों को ही बार-बार दुहराने का प्रयत्न स्पष्टरूप में दिखाई देता है। तो भी उन गलतियों को नवीन तत्वज्ञान की नवीन प्रमेयों की विचार-सरणी कहकर पुकारा जाता है।

पूना के कबाड़ी बाजार में अपनी अभीष्ट वस्तुओं को सस्ते भावों में प्राप्त करने में प्रबल सम्भावना रहती है। बचपन से तमाशे के लिए कभी-कभी एकाध चीज खरीदने के लिए, तथा अनेक बार केवल मनोरंजन के विचार से मैं इस कबाड़ी बाजार की ओर आकर्षित होता रहा हूँ। पूना के प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा सामान्यतया यही रहती है कि उसकी गृहोपयोगी प्रत्येक वस्तु नई रहे। यह होने पर भी उसकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति इस कबाड़ी बाजार से ही हुआ करती है। पूना का कबाड़ी बाजार खुला बाजार है, अतः उसकी तुलना बम्बई के चोर बाजार से नहीं की जा सकती। इसका यह अभिप्राय नहीं कि चोरी करके लाई गई वस्तुएं अपना 'कायाकल्प' करवाके यहाँ मिलती ही नहीं, आजकल सारी वस्तुएँ महंगी एवं अलभ्य हो गई हैं। 'देशोद्धार की योजनाओं' को छोड़कर बाकी कोई भी चीज अपने योग्य प्रमाण में नहीं मिलती। खास करके पुस्तकों के बारे में गत चार-पाँच वर्षों से युद्ध के कारण विशेष अड़चन अनुभव होने लगा है। पुस्तकें खरीदने की बीमारी मेरी पुरानी है। थोड़े

से पैसे ज़्यादा महसूस होते ही पुस्तकें खरीदने का मेरा यह व्यसन अनेक मर्तबा 'गृह-मन्त्री' के आक्षेप का विषय बन चुका है ।

एक दिन आज हमारे एक पुराने पन्कार (मक्किल) ने कई बरस पहले काम के प्रतिदानस्वरूप अप्रत्याशित रूप में कुछ रकम लाकर हमें दी । अनुमानपत्रक (बजट) के सम्बन्ध में मैंने स्वयं एक पुस्तक लिख रखी है पर अपने घर के अनुमानपत्रक के 'आय' और 'व्यय' दोनों का ठीक-ठीक व्यौरा करना आज तक मुझे नहीं आया । प्रत्याशित वस्तु तो न आवे पर अप्रत्याशित आ जाय इस बात का जैसा मेरा अनुभव है वैसा ही यह अनुभव है कि प्रत्याशित वस्तु तो सारी की सारी खच हो जाती है और अप्रत्याशित वस्तु बढ़ती ही चली जाती है । लक्ष्मी स्थभावतः चंचल है; अतः उसके स्वभाव के विरुद्ध उसे स्थिर अथवा स्थायी करने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया । यह हो सकता है कि मेरे लिए वैसा करना संभव भी न हो । अतः जब उपयुक्त अप्रत्याशित रकम, जो कुछ छोटी-मोटी नहीं थी, हाथ में आई तब पहले पहल मैं 'इंटरनेशनल पुस्तक संग्रहालय' में गया । जब वहाँ अपनी अभीष्ट पुस्तकें न मिली तो यह सोचकर कि अब किसी न किसी दिशा में जाना चाहिए मैं एटीफीट रोड से नये पुल की ओर चल पड़ा । अब मैं 'कांग्रेस भवन' के सामने से गुजर रहा था तब रास्ते पर लोगों की भीड़ को देखकर खयाल आया कि आज तो कबाड़ी बाजार का दिन है और तत्काल जैसे किसी तांगे वाले का घोड़ा आदत की वजह से अनायास किसी रास्ते की ओर चल पड़ता है मेरे पैर भी कबाड़ी बाजार के प्रदेश की ओर मुड़ गये । इसमें संदेह नहीं कि मैं बहुत दिनों के बाद आज इस कबाड़ी बाजार की ओर जा रहा था; तथापि अपरिचित होते हुए भी सारे दूकानदार मेरा स्वागत कर रहे थे । इस स्वागत के कारण उत्पन्न होने वाला 'अहंकार' अपने वास्तविक

स्वरूप पर आने से पहले ही विलीन हो गया, क्योंकि जो लोग मुझे पास बुला रहे थे वे मुझे अपना नेता समझकर नहीं बल्कि एक ग्राहक के नाते बुला रहे थे, यह बात शीघ्र ही मेरे ध्यान में आ गई। बैठने की नयी काट की चौकी से लेकर सोने के मसहरीदार पलंग तक अनेक वस्तुओं के विक्रेता हावभावपूर्वक चिल्ला रहे थे। चिथड़ों को सीकर तय्यार किये हुए साबुत कपड़े बेचनेवाले लोग उसी प्रकार के कपड़े पहनकर अपने उत्पादन के साथ मानो 'सुसंगति' प्रदर्शित कर रहे थे। गालों पर कहीं-कहीं बालों के गुच्छोंवाला 'हसन अली' बोहरी टूटी-फूटी बाल्टी से लेकर बिल्लौरी आईने तक की सर्वविसंगत वस्तुओं का समन्वय करके 'सर्वोदय' वाद का प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) करके दिखा रहा था। इस बाजार की गंदगी और स्वच्छता स्वयं इस बात का पक्का सबूत पेश कर रहे थे कि उस जगह की व्यवस्था का भार म्युनिसिपैलिटी पर है। एक ओर मोटरों और दूसरी ओर जानवरों के बाजार की योजना करके पूना की नगरपालिका ने अपने रचना-कौशल्य से बड़ी खूबी के साथ यह जतलाया था कि मनुष्य यंत्रों की अपेक्षा सजीव क्रिन्तु जानवरों से भिन्न है। इस कबाड़ी बाजार में मानवीय गृह-प्रपंच के लिए आवश्यक 'साहित्य' (मराठी में सामग्री के अर्थ में भी साहित्य शब्द का प्रयोग होता है) के साथ-साथ ज्ञान 'साहित्य' के साधन अर्थात् ग्रन्थ भी थे।

कबाड़ी बाजार की पुस्तकें

स्वभावतः ही मेरा चित्त इस ग्रन्थ-भंडार की ओर आकृष्ट हुआ। मैंने इस कबाड़ी बाजार से पुस्तकें कभी खरीदी ही नहीं सो बात नहीं, पर ऐसे प्रसंग बहुत कम आये हैं। पर आज मुझे न मालूम क्या हुआ कि मेरे मन में विचार आया कि आज वहाँ से कुछ न कुछ खरीदना जरूर चाहिए और मैं पुस्तकों की ढेरी में से एक-एक पुस्तक उठाकर देखने

लगा। बाबिलोन शहर में जिस प्रकार अनेक भाषा बोलने वाले लोग रहा करते थे और एक-दूसरे की भाषा न समझते हुए भी परस्पर व्यवहार किया करते थे, वैसी ही कुछ अवस्था यहाँ पर भी थी। संस्कृत, मराठी, उर्दू, बंगाली, अंग्रेज़ी, फ्रेंच इत्यादि नाना भाषाओं की पुस्तकें पाँचोबाजी की दुकान में मिल-जुलकर एक ही ढेरी में पड़ी हुई थी। शंकराचार्यजी के ब्रह्मसूत्र से लेकर पट्टे बाबूरावजी की लावनी तक के विषयों वाले ग्रन्थ वहाँ दिखाई दे रहे थे। परमेश्वर जैसे दिक्कालातीत है, तदवत ही मेरे सामने की ढेरी भी दिक्कालातीत भासित होती थी। विभिन्न देशों एवं कालों के ग्रन्थकारों द्वारा लिखे ग्रन्थ यहाँ एक ही राशि में समन्वित थे। उस राशि की पुस्तकों को टटोलते-टटोलते मेरी दृष्टि एक ग्रंथ पर गई और एकदम बिजली का झटका-सा लगा।

पुस्तक मांगकर लेजानेवाले वकील साहब !

सन् १९३८ में 'म्युनिक' की संधि हुई। उन दिनों यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र में 'एडवर्ड बेनेस' नामक एक व्यक्ति बहुत प्रसिद्ध हुए। चेकोस्लोवाकिया देश का यह नीतिपंडित म्युनिक की घटना से बहुत बरस पहले से सारे यूरोप को नात्सीवाद से बचे रहने की निरन्तर चेतावनी दे रहा था। अन्तःकरण से तथा विचारों से यदि किसी को सच्चा प्रजातन्त्रवादी कहा जा सकता है तो वह यही नीतिपंडित था। गत युद्ध के अनन्तर चेकोस्लोवाकिया राष्ट्र कितने अल्पकाल में उन्नत हुआ, इसका वर्णन पंडित नेहरू ने कुतूहलपूर्वक किया है। पिछले युद्ध के पश्चात् सबको यही प्रतीत होता था कि यह देश दुर्दैव के चक्र से निकलकर अब सुस्थिति के मार्ग पर चल पड़ा है। एक ही पीढ़ी में प्राग नगर के नागरिकों को तीन राज्यों का नागरिक बनने का सम्मान प्राप्त हुआ था। यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र के इस पादापद के समाप्त हो चुकने के बाद यह देश बार्साई के अनन्तर

स्वयंशासित एवं स्वयंकर्तृत्ववान हो गया है ऐसा ही सारे जग को लगता था । १९२० से १९३७-३८ तक चेकोस्लोवाकिया ने जो प्रगति की और विशेषतः लोकतन्त्र पद्धति को सही अर्थों में सफल करके दिखाया उनके सम्बन्ध में सर्वत्र कुतूहल व्यक्त किया जाता था । इस महान् कर्तृत्व का अधिकांश श्रेय श्री बेनेस को था । उनका नाम सारे जग को पहले ही से ज्ञात था । चैम्बरलेन ने म्युनिच संधि करके चेकोस्लोवाकिया पर जो अन्याय किया था, उसके सम्बन्ध में बेनेस ने जो भाषण दिया था वह इस प्रकार था :—

“यूरोप की शांति के लिए आज हम अपना बलिदान कर रहे हैं । इस बलिदान से यदि हमें यह विश्वास होता कि यूरोप की शांति अजरअमर रहने वाली है, तो इससे भी अनेक गुना अधिक बलिदान करने में हमें अत्यधिक आनन्द हुआ होता । हमारे इस बलिदान से तो शांति नहीं प्रत्युत युद्ध ही की परम्परा कायम रहेगी । तथापि लोगों को शांतिपूर्वक धीरज के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए और लोकतांत्रिक का स्वातन्त्र्य संरक्षण करना चाहिए । आज न सही, कल तो निश्चित ही लोकतन्त्र की जीत होगी ।” इस भाषण के सुनने के बाद उसी समय मैंने उसकी लिखी पुस्तक ‘लोकतन्त्र’ (डमोक्रेसी) खरीदने का निश्चय किया और बम्बई जाकर खरीदकर ले भी आया । इस पुस्तक के लाने के बाद दूसरे या तीसरे दिन पूना के एक वकील साहब किसी काम से मेरे पास आये और वह पुस्तक पढ़ने के लिए मांग कर ले गये । पुस्तक कोई ऐसी वस्तु नहीं कि उसे हमेशा अपने साथ ही रखा जाय । यदि उसको पढ़ने से किसी अन्य व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती हो तो किसी दूसरे को उसके दे देने से अपना क्या बिगड़ता है ? ज्ञान-दान श्रेष्ठ वस्तु है न ? सभी पुस्तकें तो ऐसी नहीं रहती कि उन्हें सोने की तरह संभाल कर रखा जाय ।

बेकन के कथनानुसार, कुछ पुस्तकें एक ओर को रखने की होती हैं कुछ पढ़कर मनन करने की होती हैं तथा कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें अपना सदा का साथी, मार्गदर्शक समझकर पास रखना चाहिए। किसी भी प्रकार की क्यों न हों, अर्थशास्त्र के शब्दों में वे 'बहुपयोगी' होती हैं। उनका किसी एक के द्वारा, किंवा एक मर्तवा उपभोग कर लिया जाय तो भी उनकी उपयोगिता खत्म नहीं होती। ऐसी अवस्था में अपने पास की ग्रंथ-संपत्ति को अनुपयुक्त दशा में रखना असामाजिक है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। पर पढ़ने के लिए पुस्तकें औरों को दे दे तो वे फिर वापस नहीं आती। संस्कृत का यह सुभाषित 'पर हस्तगतं गतम्' ही सही साबित होता है। जो वकील साहब पुस्तक मांग कर ले गये थे वह कोई राजनीति के अध्ययन करने वाले नहीं थे। राज्य-शास्त्र में विशेष अभिरुचि भी उनकी नहीं थी। परन्तु समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं जो किसी के घर में कोई नई पुस्तक देखकर उसकी इच्छा करने लगते हैं। पुस्तकों को वास्तविक सम्पत्ति समझने वाले लोग हम लोगों में बहुत थोड़े हैं। अपने सामर्थ्य से बाहर खर्च करके घर की सजावट का सामान वे लोग एकत्र करेंगे पर थोड़ी कितु चुनी हुई पुस्तकों का संग्रह करके अपने घर को और मन को सजाने का प्रयत्न वे बहुत कम करेंगे। तथापि कुछ लोगों की आदत होती है कि दूसरे के पास कोई अच्छी सी किताब नज़र आई कि वे तत्काल मांग बैठेंगे। पुस्तक वे लोग ले जायेंगे, लेजाकर खो बैठेंगे, और किसी ने उनसे वह वापिस मांग ली तो गुस्से के मारे उनकी तयोरियां चढ़ जायेंगी। यह इतिहास तो सब जानते ही हैं। मुझे यह अनुभव पहले अनेक बार हो चुका था तो भी उक्त महानुभाव के उत्साह को देख कर मैंने उन्हें वह पुस्तक दे दी।

मुझे आघात क्यों लगा ?

ठीक सात वर्ष पश्चात् वह पुस्तक पांडोबाजी की उल्लिखित पुस्तकों की राशि में मुझे दिखाई दी। इन सात वर्षों में जगत में क्या-क्या हो गया इसका चित्रपट उस पुस्तक के हाथ में आते ही मेरी आँखों के सामने आ गया। यूरोप के छोटे-बड़े लोकतन्त्रीय तथा अन्य प्रकार के राष्ट्र नात्सी लोगों के पैरों के नीचे कुचले हुए नज़र आये। इतना ही क्यों, जो लोग अपने को लोकतन्त्रीय कहते हैं उन देशों में भी हमने देखा कि समाज का जीवन नात्सी राज्यपद्धति की अपेक्षा कहीं अधिक जकड़ा हुआ है। मेरी आँखों के सामने वह दृश्य आया, जहाँ ईमानदारी से किये गये विरोध को लोगों ने राज्यद्रोह की चौखट में बिठा रखा है। सहिष्णुता और सौजन्य के जिन सद्गुणों पर लोकतन्त्र अध्याश्रित है, उनके मृत्युगीतों को इन कानों ने सुना। लोकतन्त्र का अभिप्राय है शासित व्यक्तियों की सम्मति से चलने वाला शासन, पर यह सिद्धांत नाममात्र को बचा दिखाई दिया। एक पक्ष का स्वेच्छाचारी शासन ही लोकतंत्र है, ऐसा अर्थ नवीन भाष्यकारों द्वारा उपवर्णित मैंने सुना। जिन दलों ने, जिन नेताओं ने, जिन राष्ट्रों ने स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाई उन लोगों को स्वेच्छाचारी शासन के पृष्ठपोषक कहकर उनकी जुगुप्सा की गई, उन्हें जेल में डाल दिया गया। इन सात बरसों में यहां तक नौबत आई कि असत्य भी सत्य सिद्ध होने लगा। देशभक्ति गुनाह माना गया और स्वातंत्र्य का अभिप्राय बड़े देश की गुलामी माना जाने लगा। जो स्वातंत्र्य नये विचारों की जननी, अभ्युदय की कामधेनु एवं अस्मिता का गौरव था आज उसके अर्थ, शून्य साबित होने तक की नौबत आ गई। आज सर्वत्र नियमन और निःश्रयण का बाज़ार गरम है, व्यक्ति की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव प्रतिक्षण क्षीण होता जा रहा है। व्यक्ति के महत्व का क्षय

ही आज के जगत में वृद्धि है। व्यक्ति के गौरव को स्थिर रखकर समाज की प्रतिष्ठा एवं पराक्रम को वृद्धिगत करने वाला संगठन ही लोकतंत्र है, इसे मंजूर करने के लिए आज कोई तैयार नहीं। इन गत सात वर्षों में कार्यक्षमता के नाम पर लोकतंत्र को पुराना आदर्श मान लिया गया है।

और इन सब घटनाओं के प्रतिबिम्ब के तौर पर ही कदाचित् यह लोकतंत्र की पुस्तक इस कबाड़ी बाजार में बिक्री के लिए आकर पड़ी हुई थी ! और दुःख की बात यह थी कि स्वामित्व की भावना से उस पर जो मेरा नाम लिखा हुआ था, उसे किसी ने अनेक लकीर खींचकर काटने का प्रयत्न किया था। मेरे नाम के नीचे और भी दो-चार नाम थे, जिन्हें उसी तरह से काट रखा था, पर मैंने उन्हें पढ़ने की भी कोशिश नहीं की। उस कटे हुए नाम वाले पन्ने को देखकर विचारों का बवंडर इतने प्रबल वेग से उठा कि वहाँ पर अधिक देर तक बैठ कर यह पता चलाने की इच्छा भी नहीं हुई कि वह पुस्तक वहाँ कैसे आई। जहाँ लोकतंत्र जैसी वस्तु ही जीर्ण और पुरातन साबित हो गई, वहाँ इस क्षुद्र सी वस्तु को इतना महत्व क्यों दिया जाय ? मैं उठ खड़ा हुआ। मेरे इर्द-गिद सारी जीर्ण और पुरानी वस्तुएं अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ी हुई थीं इसमें संदेह नहीं, पर मेरे सामने नदी वेग से बही जा रही थी। नये पानी के प्रवाह की कलकल ध्वनि कानों में आ रही थी। जीवन भी एक प्रवाह है। कौन कह सकता है कि इस नवीन प्रवाह में से नवीन चैतन्य की उत्पत्ति नहीं होगी ? और इसी मंगल कल्पना में तन्मय होता हुआ मैं अपने घर वापस आ गया।

फड़ोस में चित्रशाला है न ?

केल्यानें देशाटन, पंडित मैत्री, सभेंत संचार,
शास्त्र ग्रंथ विलोकन, मनुजा ! चातुर्य येतसे फार ।

यह श्लोक मराठी की क्रमिक पुस्तकों में आया करता है । महाराष्ट्र का कदाचित् ही कोई ऐसा शिक्षित व्यक्ति मिले, जिसने यह श्लोक न पढ़ा हो । इसका अर्थ है :-देशाटन, पंडितजनों से मित्रता, सभा आदि में जाने-आने, शास्त्रग्रन्थ आदि का विलोकन करने से मनुष्य में चतुरता आ जाती है । अवलोकन तथा अध्ययन के लिए, जनता के दुःख एवं दारिद्र्य के निरीक्षण के लिए, अज्ञान तथा अनाड़ीपन का पता चलाने के लिए इस हतभाग्य देश में अपने प्रान्त से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं । किन्हुना, किसी भी गांव में, किसी भी गली और चौराहे पर आप चले जाइये, अनुभव का यह ग्रन्थ सबके परिदर्शन के लिए सर्वथा खुला हुआ रखा है । इसका परिदर्शन करना मेरा एक व्यवसाय ही हो गया है । स्वयं कोई व्यक्ति अपनी दुःखगाथा आकर सुनाये उसकी अपेक्षा किसी प्रसंग में सहज रूप से उन दुःखों का विदित होना अधिक स्वास्वपूर्ण होता है ।

अतः मैं और जेधे, जब भी कभी हमें मौका मिलता है, किसी शहर में, किसी गांव में, बस-स्टैंड अथवा स्टेशन पर के मैले-कुचैले भिनभिन करने वाले छोटे-बड़े उपाहारगृह में चले जाते हैं। एक किनारे बैठकर उस जगह जमा हुए लोगों की बातचीत सुनना तथा कभी अपना परिचय न देते हुए लोककल्याण से संबन्धित प्रश्नों पर चर्चा करना भी हमारा एक उपक्रम रहता है।

कुछ महीने पहले की बात है। भानु विलास थियेटर में किसी कलोपासक मंडली ने एक नाटक किसी एक संस्था की सहायता के निमित्त करने का निश्चय किया था। और ऐसे “सत्कार्य” के लिए किसी न किसी अभ्यक्त की आवश्यकता तो रहती ही है, सो यह “बहुमान” इस बार मेरे हिस्से में आया था। उसका कारण यह नहीं था कि मैं कोई बड़ा साहित्यिक, गायक अथवा नाटककार हूँ, प्रत्यक्ष यह था कि मैं थियेटर के मालिक का मित्र हूँ। कलोपासकों ने इस चुनाव में भी व्यवहार ही माधा था। कारण थियेटर मुफ्त हासिल करने की उनकी आंतरिक आकांक्षा थी। यह मैं तभी जान गया था। नाटक के प्रारम्भ होने में अभी देरी थी, मगर हम पहले ही आकर घूमक गए थे। यह जानकर कि नाटक के आरम्भ होने में अभी विलम्ब है, सदाशिवपेट के हौद से होकर गुजरने वाले रास्ते पर स्थित एक उपाहारगृह में मैं चला गया। होटल का मालिक अवश्य ही कोई उच्च-वर्गीय हिन्दू होगा, क्योंकि प्रथम दर्शन ही में वीर सावरकर का चित्र टंगा हुआ नजर आया। चूँकि यह होटल पूना के पश्चिम भाग में अवस्थित था, इसलिए इसका नाम संस्कृत प्रचुर होना ही था। इतना ही क्यों, सामान्य मनुष्य के लिए उसके अर्थ का ज्ञान होना भी कठिन था। संस्कृत से थोड़ा बहुत परिचय होने के कारण मैं समझ सका कि यह एक उपाहारगृह है। मैं उसके भीतर चला गया। मैं तो गांधीटोपी वाला था ही, मेरे

साथ के अन्य दो सज्जन भी गांधीटोपी ही में थे। कदाचित् गली के नजदीक वाले ने हमें पहचान लिया हो, किंवा हमें कुछ असाधारण ग्राहक समझकर उनकी गतिविधि में कुछ अस्वस्थता आ गई। हमने जानबूझकर कोने वाली जगह अपने लिए पसन्द की। उस स्थान में पदार्थ तैयार करने की जगह हमें अच्छी तरह नजर आती थी।

चाय बगैरा देने वाला लड़का जब हमारे समीप आया, तब हमने उससे अपने में से प्रत्येक के लिए उसे चाय का एक-एक प्याला लाने के लिए कहा, जिसके बारे में किये गए विज्ञापन में लिखा है कि “जो उत्साह कारक तो है पर उन्मादकारक नहीं, जो ग्रीष्मऋतु में टंडक और शरद् ऋतु में गर्मी लाती है, जिसके पीने से मलेरिया जैसे रोग दूर भागते हैं और स्वास्थ्य समीप दौड़ता चला आता है।” और मैं उस लड़के की ओर देखने लगा। उसके शरीर पर एक ऐसा कमीज़ था जिसने निश्चय किया हुआ था कि चाहे जान चली जाय पर धोबी के घर नहीं जायगा। मूलतः उस कमीज़ का क्या रंग रहा होगा, इसका पता लगाना भी एक शोध का ही काम था। जिस प्रकार राजनीतिज्ञ लोगों की आलोचनाओं की परवा नहीं करता, उसी प्रकार वह भी सध प्रकार के मलों की परवाह नहीं करता था। उसने जो निकर पहनी हुई थी, वह चलने-फिरने की सुविधा के लिए नहीं प्रत्युत मालिक के खर्चों की सुविधा के लिए बनाई गई थी। मिनट-मिनट में कंधे से हाथ में और हाथ से कंधे पर जाने वाले उसके कपड़े का तो वर्णन करना ही कठिन है। जब अन्दर से एक पर एक कप रखकर वह हमारे लिए चाय बनाकर ला रहा था तब मेरी दृष्टि लगातार उसी ओर थी। साथ ही अन्दर के कमरे की सारी अवस्था का भी ज्ञान हो रहा था। वहाँ का अंधेरा, वहाँ से निकलने वाला धूआँ, चारों तरफ बिखरे हुए छिलके, वहाँ काम करने वालों की वेपभूषा, शरीर पर बहने वाली

पसीने की धाराएं आदि देखने पर एक बार मन में यह विचार आया कि वहाँ से उठ कर चले जायें। लड़के ने चाय लाकर हमारी मेज पर रखी। मैंने उससे उसका नाम पूछा। नाम के पश्चात् उसकी उम्र के बारे में प्रश्न किया। उसका वेतन और उसका अता-पता पूछ लिया। जब मालिक ने देखा कि वह हमेशा से कुछ ज्यादा समय तक हमारे पास खड़ा है तब स्वभावतः मालिक का भी ध्यान हमारी ओर खिंचा। मालिक ने यह देखकर कि मैं किसी किस्म की पूछताछ कर रहा हूँ, एक दूसरे नौकर को, जिसकी उम्र कोई पच्चीस बरस की होगी, हमारे पास भेजकर यह कोशिश की कि किसी तरह वह लड़का वहाँ से हट जाय। उस लड़के की उम्र दस बरस की थी तथा उसने जो जानकारी हमें दी थी उसके मुताबिक उसे भोजन के अतिरिक्त महीने में छः रुपये मिला करते थे। रहने का इन्तजाम मालिक ने अपने यहाँ ही कर रखा था। एक बड़ा हाल था, उसी में दस-बारह लड़के और अन्य नौकर सो जाया करते थे। भोजन की व्यवस्था के बारे में उसने जो जानकारी दी उससे यह अनुमान निकाला जा सकता था कि होटल में बचने वाले सार पदार्थ उन्हें दे दिये जाते होंगे।

“अच्छा, यह बता, सबेर से लेकर तेरा क्या कार्यक्रम रहता है ?” मैंने उससे पूछा। “हम सबेरे छः बजे उठते हैं।” और इसके बाद उसने जो दिनचर्या बतलाई उसमें तथा जेल के ‘क’ वर्ग के कैदियों की दिनचर्या में मुझे कहीं भी अन्तर नहीं नज़र आया। उलटे जेल में सांभ के छः बजे काम समाप्त हो जाता है और यहाँ रात के नौ बजे तक तो काम रहता ही है पर पुलिस वालों की मालिक पर कृपा रहे तो उसके पश्चात् भी दो-तीन घंटों के लिए काम चालू रह सकता है। ग्राहकों की अनुपस्थिति ही उनका विश्रांतिकाल—यही बस उनके लिए विश्रांति का कायदा था,

ऐसा प्रतीत हुआ। इस उपाहारगृह में दस से अधिक आदमी काम करते थे, तथापि वहाँ काम करने वालों के काम के घंटों के ऊपर तथा श्रमिकों की विश्रांति के समय के ऊपर सरकार का कुछ भी नियन्त्रण नहीं नज़र आता था।

मेरे पूछताछ करने से मालिक नाराज़ हो रहा था, तो भी मैंने अपनी पूछताछ उसी प्रकार जारी रखी। जो नौकर उस लड़के को वहाँ से जाने के लिए कह रहा था उससे भी मैंने पूछना-ताछना शुरू कर दिया। “होटल की पूछताछ के लिए कोई आया करता है क्या ?” मैंने उन दोनों नौकरों से पूछा। “कोई नहीं आता” ऐसा उत्तर मिला। “तुम नौकरों को कितना काम करना पड़ता है तथा क्या काम करना पड़ता है, हम बात का पता चलाने के लिए कोई आता है क्या ?” इसका भी “नहीं” उत्तर मिला। “तुम लोगों की कभी कोई सभा आदि हुआ करती है ? तुम्हारा कोई संघ बना हुआ है क्या ?” मैंने पूछा। मेरे इन दोनों प्रश्नों का बोध उन्हें नहीं हुआ। बड़े नौकर ने बतलाया, संघ या सभा क्या वस्तु है इसका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसपर सहज ही मैंने उनकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में सवाल किया। बड़े लड़के ने बताया कि उसे मराठी लिखना-पढ़ना आता है। पर अधिक पूछने से मालूम पड़ा कि वह कुछ समय पूर्व ही आता था, ऐसा उसके कहने का अर्थ है। इस समय उसका ज्ञान हस्ताक्षर करने से अधिक उसकी सहायता करने के लिए तैयार नहीं था। उसकी मात्सरता हस्ताक्षर की परिवन्ध रेखा को पार करके आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकती थी। उसकी दुनिया उपाहार-गृह तथा आठ-दस दिन में एक दफा देखने को मिलने वाला सिनेमा इतने ही में परिसीमित थी। हम जिस स्थिति में हैं उससे अधिक अपने को होना चाहिए यह अभ्युदय की कामना ही उसके भीतर नहीं थी। दूसरों

के भाग्य की तुलना करके अपने घोड़े को आगे दौड़ाने की तीव्र लालसा ही उसने सदा के लिए विछुट कर रखी थी। सवेरे उठकर संध्याकाल तक, किंबहुना रात के दस-ग्यारह बजे तक, चाय का प्याला और रकाबी धोते रहना अथवा कपड़ों हाथ में लेकर मेज साफ करते रहना यह उनका अव्यवहृत गति से चलने वाला कार्यक्रम किसी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के कार्यक्रम के समान चलता रहता था। वह जिस किस्म की ज़िन्दगी बसर कर रहा था वह उसे असह्य प्रतीत होती हो ऐसा भी नहीं लगता था। जीवन का व्यापक हेतु क्या है, इसका ज्ञान तो भला उस बेचारे को कहाँ से हो सकता था ? द्विपाद होने के कारण ही उसे मनुष्य की पदवी प्राप्त थी, ऐसा कहना पड़ेगा। वह इस अवस्था में, अज्ञानान्धकार में, पड़ा रहे इस बात से मुझे क्लेश तो हो ही रहा था, पर इससे भी अधिक क्लेश मुझे तब हुआ जब मैं उस छोटे लड़के की ओर मुड़ा।

“तुझे कुछ लिखना-पढ़ना आता है क्या ?”

“नहीं।”

“तू पाठशाला में जाना पसन्द करेगा ?”

वह लड़का अपने मालिक के मुँह की ओर देखने लगा।

“तू यहाँ कैसे आया ?”

“कुछ महीने पहले मेरे मां-बाप गुजर गये, मेरे चाचा ने मुझे घर से निकाल दिया, अतः अपने गांव के एक आदमी के साथ मैं यहाँ चला आया, सो उसने मुझे लाकर यहाँ होटल में रख दिया।”

“अच्छा, अगर मैं तेरी फ़ीस का इंतज़ाम कर दूँ और किताबें ला दूँ तो तू पढ़ेगा ? या तुझे जन्मभर इसी प्रकार प्याला-रकाबी धोते रहना ही अच्छा लगेगा ?”

इसपर फिर लड़का अपने मालिक के चेहरे की ओर देखने लगा।

मैंने उस लड़के से कहा, “इसमें मालिक का क्या सम्बन्ध है ? तुम्हें अगर पाठशाला में जाना ही हो तो मालिक तुम्हें दो-तीन घंटे की छुट्टी तो दे ही सकेगा, और अगर उसने वैसा नहीं किया तो मैं उसे वैसा करने के लिए मजबूर करूंगा । तां बता. है तेरी तैयारी शाला में जाने की ?”

“हां” उसने उत्तर दिया ।

“तू कभी पाठशाला में गया है ?”

“नहीं ।”

“तो, यहाँ सबसे नजदीक की शाला कौनसी है ?” मैंने पूछा ।

“नुक्कड़ पर चित्रशाला है न ।”

यह उत्तर सुनते ही मैं तो अवाक् ही रह गया । अज्ञान की दशा पूना जैसी प्रगतिप्रिय एवं सुविद्य नगरी में इस सीमा तक चली जाय यह अत्यन्त खेद एवं आश्चर्य की वस्तु है । पूना में विद्या की परीक्षा होती है, ऐसी प्रसिद्धि है । यहाँ के कार्यकर्त्ता कहते हैं कि इस नगर में सार्वत्रिक निःशुल्क प्राथमिक शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए । पूना का वर्णन एक साहित्यिक ने विद्यार्थी निर्माण करने की उद्योगनगरी के रूप में किया है । ऐसी अवस्था में पूना में इतना अधिक अज्ञान दिखाई दे, पूना के सुशिक्षित भाग की यह अवस्था रहे, यह सचमुच पूना के सभी पक्षों के नेताओं के लिए लज्जास्पद है । इस देश में अज्ञान का निवास इसलिए है क्योंकि यहाँ विदेशी शासन है यह कहना सर्वोश में सत्य नहीं है । दारिद्र्य और अज्ञान इस देश के दो महान् शत्रु हैं । उनमें से अज्ञान का निःपात करने के लिए जितना यत्न किया जाना चाहिए उतना यत्न उच्चवर्ग के लोगों ने यथार्थ में नहीं किया है । विद्या को पूंजी का रूप प्रदान करके उसे किन्हीं विविक्षित वर्गों की ही थाती बनाये रखने का प्रयत्न आज तक किया जाता रहा है । और उस वर्ग के भी सब लोगों

को विद्या नहीं मिल सकी। जिस देश में केवल आठ प्रतिशत लोग भी शिक्षित न हों, उस देश का जीवन निरादर, निष्क्रिय एवं निरुत्साह बना रहे तो उसमें आश्चर्य की कौन बात है। विद्या ही से तो श्रेष्ठता प्राप्त हुआ करती है। वह विद्या-रूप चैतन्य यदि राष्ट्र को प्राप्त नहीं होता तो राष्ट्र प्रगतिविमुख ही रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

पूना में, वह भी सदाशिव पेठ में, वह भी सदाशिव पेठ के हौद के नजदीक जिसके बारे में दावा किया जाता है कि वहां सरस्वती का निवास है, एक उच्चवर्गीय लड़का यह पूछने पर कि पास में कौनसी शाला है, उत्तर देते हुए कहे कि 'चित्रशाला* है न' इसमें विडम्बना तो हुई है पर इससे समाज की वस्तुस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है।

(*चित्रशाला पाठशाला नहीं एक ख्यात मुद्रणालय है।)

मेरी प्रथम और अन्तिम चोरी

रम्य वस्तुओं को देखकर और मधुर स्वरों को सुनकर मनुष्य का मन उत्सुकता से भर जाता है। अन्य जन्मों की न भी सही, भूतकाल की घटनाएं तो अवश्य ही स्मृत हो जाती हैं। भूतकाल की इन स्मृतियों में से कुछ में खुशी भरी रहती है और कुछ में दर्द। कभी केवल घटनाओं की याद ही नहीं आती बल्कि उनकी सारी तसवीर आंखों के सामने जीवित और जागरित रूप में आकर खड़ी हो जाती है तथा ऐसा महसूस होने लगता है कि हम साक्षात् उन घटनाओं को अनुभव कर रहे हैं। इस अनुभवावस्था में, वस्तु सृष्टि में भले ही न हो पर अपनी कल्पनासृष्टि में, हम उन्हीं-उन्हीं भूलों को तथा व्यवहारों को दुहराने लग जाते हैं।

विचारशास्त्र का कहना है कि साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा मानवीय मन को चालना मिला करती है। ब्रह्मचारी को देखते ही गृहस्थाश्रमी मनुष्य की सृष्टि आंखों के आगे आकर खड़ी हो जाती है। सूली पर चढ़ने वाले देशभक्त का वृत्तान्त पढ़ते ही देशद्रोही मनुष्य के कृष्णकृत्य नज़र के सामने आ जाते हैं। हंसने वाले बच्चे को देखते ही फलों की

शोभा दीखने लग जाती है। इसी प्रकार सुहास्य वदन को देखते ही कवि-मन को कमल का भास होता है। जो पार्थिव दृश्य हम देखते हैं उनका प्रतिबिम्ब विचार-सृष्टि पर पड़ता है और तत्सदृश घटनाएं स्मृत हो आती हैं। मन के किसी दूरस्थ कोण में संगृहीत स्मृतिप्रसंग ऐसे ही किन्हीं निमित्तों के कारण जागरित होते हैं। छिपे हुए अथवा दबाकर रखे हुए आनन्द, लज्जा अथवा शोक के काष्ठप्राय हुए वर्त्तनक्रमों को मानवीय मन इन अवस्थाओं में पल्लटित करता है, उन्हें प्रासादिक करता है तथा पर्याप्तकाल तक उनमें रमता रहता है। आनन्द की स्मृति तो आनन्द देती ही है; पर दुःख और लज्जा की स्मृतियाँ भी कालांतर में अल्पाधिक मात्रा में मन को सुखी बनाया करती हैं। ऐसा क्यों होता है, अथवा क्यों हो, यह कहना कठिन है, पर ऐसा होता है, यह अवश्य सत्य है।

स्वयमेव संपद

इस प्रकार की एक विलक्षण तथा थोड़ी विमनस्कता उत्पन्न करने वाली घटना का मैंने हाल ही में अनुभव प्राप्त किया है। बम्बई सरकार ने जेलों में सुधार करने के उपाय सुझाने के लिए एक समिति नियुक्त की थी, उसका एक 'सम्माननीय सदस्य' मैं भी था। इस किस्म की समिति में काम करने की पूरी पात्रता मुझमें है, ऐसा यदि मैं कहूँ तो मेरी यह आत्मश्लाघा अवश्य ही क्षुब्ध साबित होगी। तीन प्रान्तों की कुल जमा दस-ग्यारह जेलों में मैंने छः बरस गुज़ारे हैं, अतः मुझे ऐसे जीवन का 'विशेष अनुभव' है इस बारे में किसी को संदेह नहीं करना चाहिए। जेलों में रहते हुए अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए किन उपायों का अवलंबन करना चाहिए इसका सारा तंत्र और मंत्र मैं अच्छी तरह जानता हूँ, ऐसी मेरे साथ रहने वाले, 'आश्रमवासियो' की राय है। मेरी इतनी ख्याति (!) होने के कारण गुणबुद्धिः स्वयमेव संपदः के न्याय से यह सदस्यता

अपने आपही मेरे पास चली आई। इसी सिलसिले में गत दिसम्बर में मैं समिति का सदस्य होने के नाते अन्य सदस्यों के साथ धारवाड़ स्थित बाल-अपराधियों की पाठशाला (बोस्टल स्कूल) देखने के लिए गया था।

कर्नाटकी भाषा मोटर

उस दिन प्रायः प्रतिक्षण उत्साह बढ़ाने वाली सर्दियों में हम लोग बेलगांव से मोटर में बैठकर आये थे। सुना था कि कर्नाटक की मोटरें भी चलते समय बहुत ज़्यादा आवाज़ करती हैं। थोड़ा अनुभव भी हुआ था। मोटर में बम्बई राज्य का पूरा प्रतिबिम्ब था। गुजराती, सिंधी, महाराष्ट्रीय और कर्नाटकी सभी उसमें बैठे हुए थे। बिना किसी विभक्तीकरण की चर्चा के हमने यह प्रवास किया, यह जानकर शायद कुछ लोगों को आश्चर्य होगा। बाहर तो थोड़ी ठंड थी ही, उसके अतिरिक्त पास ही मैं 'सकाल' (पूना का प्रातःकालीन मराठी दैनिक) के बाबा बैठे हुए थे अतः ठंड अधिक बढ़ जाने का डर पैदा हो गया था। पर वह डर बेकार साबित हुआ। रास्ते की वनशोभा देखते हुए, इस राज्य के कारागृहों को राजप्रासादों का वैभव प्राप्त कराने के उपायों पर विचार करते हुए, हम सहीसलामत अपने मुकाम पर पहुँच गये थे। हमारा सारथी 'अविन्ध' (अच्छिद्धकरण यानी मुसलमान) था और नाम भी उसका डरावना था। पुनश्च, बड़े तड़के वह किसी को कब्रिस्तान में पहुँचाकर आया था। गाड़ी अगर उसने किसी खंड में गिरादी होती तो एक ही समयावच्छेद से बहुतसे महान् नेताओं को सद्गति (!) प्रदान करने का महापुण्य उसके हाथों सिद्ध हो गया होता और दुनिया से कुछ काफ़िरों का खातमा हो गया होता। पर ऐसा पाक खयाल उसके दिमाग में नहीं आया। इसका कारण कदाचित् मेरा वह रोआब हो, जिसमें कि मैं शाही दिल्ली की हिन्दुस्तानी अर्थात् उर्दू में बोल रहा था। कम से कम मुझे तो यही प्रतीत होता है।

पुस्तक की चोरी

मुख्य दरवाजे के समीप गाड़ी के आते ही ब्रैड शुरू हो गया। पहरावे से वहाँ खड़े हुए लड़के कैदी नहीं प्रतीत होते थे। किंबहुना, परकोटे को छोड़ वहाँ अन्य कोई भी ऐसी वस्तु नहीं थी, जिससे यह कहा जाय कि वह जेल है। बंदूक वाले और डंडे वाले सिपाही वहाँ नहीं थे। मुख्य द्वार पर लिखा हुआ 'पाठशाला' शब्द यथार्थ प्रतीत होता था। परकोटे के भाग से भीतर पहुँच जाने पर सारा हृदय आल्हाददायक ही था। व्यवस्थित पद्धति से बगीचा लगाया हुआ था अतः समता और रेखा-बद्धता का नेत्राकर्षक सामंजस्य दिखाई देता था। सामान्य जेलों में दिखाई देने वाला वस्तु का स्वरूप यहाँ बिल्कुल नहीं दिखता था। इधर-उधर आने-जाने वाले व्यक्ति मुक्ततापूर्वक आते-जाते नज़र आते थे।

अधिकारी हमें भिन्न-भिन्न इमारतों में चलने वाले वर्गों में ले गये। उर्दू, मराठी, कन्नड, गुजराती आदि के प्राथमिक शिक्षण के वर्ग हमने देखे। एक अंग्रेज़ी का वर्ग देखा। हमारे में से कुछ ने परीक्षक का भी काम किया। वर्गस्थ शिक्षकों ने अपने अनुभव बताये। वरिष्ठ अधिकारियों ने अपराधियों के वर्गीकरण के बारे में जानकारी दी। मालूम पड़ा कि बहुत से लड़के तरखानी, नक्काशी, बुनाई, सिलाई आदि का बड़ा अच्छा काम करते हैं। मेरे मन में कुछ और ही विचार चल रहे थे। साधारणतया कोई होशियार लड़का दीखता तो मैं उससे पूछताछ करता। उसके घर की अवस्था, उसके माता-पिता का व्यवहार, उसके संगी-साथी आदि के बारे में विशेष पूछताछ करता। चोरी किस स्थिति में की, यह पता चलाने की मेरी तीव्र उत्सुकता रहती थी। मैंने जिस-जिससे पूछा, उसने अपनी चोरी स्वीकार की और किसीने भी यह शिकायत नहीं की कि उसे बेकसूर पकड़ा गया है। दूसरी जेलों के कैदियों के बारे में इससे

कुछ उलटा ही अनुभव आया था। वे लोग प्रायः पुलिस के विरुद्ध शिकायत किया करते थे। कोई जज की शिकायत करता। एक भी ऐसा नहीं दिखाई दिया जिसने अपना अपराध मंजूर किया हो और कहा हो कि मुझे जो सजा दी गई है वह ठीक ही है। इस जगह लोगों को असत्य बोलने की आदत पड़ गई हो ऐसा नजर नहीं आता था। कुछ लोग संगति के कारण तथा कुछ लोग घर के अव्यवस्थित वातावरण के कारण बिगड़े हुए अथवा बाम मार्ग पर लगे हुए थे। इस प्रकार पूछताछ करते-करते मैं एक ऐसे लड़के के पास पहुँचा जो देखने में सुन्दर, साफ-सुथरा और बुद्धिमान नज़र आता था। मैंने उसकी भी जानकारी ली। उसने कहा, “मैंने मार-पीट नहीं की, कुछ नहीं किया, जिस घर में हम रहा करते थे उसके मालिक की मेज पर से एक पुस्तक उठाकर मैं ले गया था। वह हमेशा घंटों तक उस किताब को देखा करता था। इधर-उधर चक्कर लगाता, फिर उस किताब को देखता। घंटों तक बाहर रहता और फिर अन्दर आता—कभी आनन्द में कभी विषाद में। फिर पुस्तक की ओर देखता। और यह सब मुझे अपनी जगह से दीखा करता था। मेरी उत्सुकता बढ़ गई और एक दिन मैंने उस मालिक को बाहर गया जानकर वह पुस्तक उठा ली। उसे मालूम पड़ गया। उसने पुलिस में खबर कर दी—बस, मुझपर मुकदमा चला और मैं यहां चला आया।” लड़के का सारा कथन सत्य नहीं था; पर पुस्तक की चोरी निमित्त मात्र रही इतना निश्चित था। पुस्तक की चोरी के कारण अपनी जिन्दगी के तीन-चार बरस यह लड़का यहां बितायेगा, यह खयाल मेरे मन में आया और

राजकन्या का अपहरण

और मुझे अपने जीवन की लगभग चालीस बरस पुरानी घटना याद हो आई। हमारे निवासस्थान से एक फर्लाङ्ग के अन्तर पर हमारे एक

मालदार संबन्धी रहा करते थे। उनका परिवार बड़ा था। पांच-पचास जवान, अनेक नौकर, प्रबन्धक आदि लगभग सारी व्यवस्था एक राज्य जैसी थी। हम हमेशा उनके यहां आते-जाते रहते थे। १९०८-१९०९ का समय रहा होगा। पूना का वानावरण उन दिनों बड़ा विलक्षण था। जल्द की हुई किताबों का पढ़ना बड़ा भारी पराक्रम समझा जाता था। कहीं किसी मन्दिर की दीवार पर अंग्रेजों के खिलाफ लिखना या एकाध हस्तलिखित पत्र को सार्वजनिक जगहों पर चिपकाना तो रण-दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के सदृश प्रतीत होता था। हम चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र के लड़के एक जगह जमा होते थे। गांव से बाहर किसी जगह बैठकर गुप्त चर्चायें किया करते थे। तीसरी मंजिल की उपमंजिल में बैठकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपायों पर विचार किया करते थे। ऐसी इच्छा होती थी कि कुछ न कुछ अद्भुत कार्य किया जाय। उस काल और उम्र दोनों ही की दृष्टि से इस प्रकार की इच्छा का होना स्वाभाविक था। समाचारपत्रों में राजनैतिक उकैतियों का वर्णन पढ़ते समय चित्त रोमांचित हो उठता था। भिन्न-भिन्न पड़्यन्त्रों के मुकदमों के वर्णनों से भरे हुए समाचारपत्रों के अंक क्षणिक महत्व के नहीं प्रत्युत नोटों की भाँति मूल्यवान् प्रतीत हुआ करते थे। एक दृष्टि से वे करेंसी नोट का काम भी करते थे, क्योंकि हमारे विचारों का विनिमय उन्हीं की सहायता से हुआ करता था। इस परिस्थिति में हम लोगों की मानसिक सृष्टि किसी खतरे की परवाह नहीं करती थी और लौकिक कल्पनाओं को स्वीकार नहीं करती थी। इन्हीं दिनों एक सुप्रभात में किसी काम से मैं अपने ऊपर उल्लिखित संबन्धी के घर पर गया। बड़े दरवाजे में से होकर जाने के बाद एक ओर के ओसारे पर क्लकों के बैठने की जगह थी और मसनदों पर हिसाब की बहियाँ तथा अन्य कागज रखे रहा करते थे। उस दिन अनायास ही एक आले की ओर नज़र गई।

वहाँ एक रंग-बिरंगी गत्तेवाली किताब दिखाई दी। सहज उत्सुकता से मैं उसके पास गया। वह आपटे का लिखा 'रूप नगर की राजकन्या' नामक उपन्यास निकला। आपटे का 'गड आला पण सिंह गेला' नामक उपन्यास मैं इससे पूर्व पढ़ चुका था। 'उषःकाल' का भी कुछ हिस्सा मैंने पढ़ डाला था। आपटे के उपन्यास कैसे होते हैं, इसका ज्ञान मुझे था। प्रसंग काफी दुर्घर था। प्रलोभन असंवरणीय था। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर अंकित चित्र ही बता रहा था कि मुझे इस मौके पर किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। ओसारे का खंबा मुगल सेना के किसी खान की तरह नज़र आ रहा था। इधर-उधर आने-जाने वाले जवान लोग सेना की भाँति मुझ पर आक्रमण करने के लिए आ रहे हैं, ऐसा भास हुआ। ऐसा प्रतीत हुआ कि चित्र वाली राजकन्या असहाय दृष्टि से मेरी ओर देख रही है और एक क्षण का भी बिलंब लगाने से एक युग का नाश हो जायगा ऐसा वह सूचित कर रही है। विचार करने के लिए समय नहीं था। मन को विवेक की बीमारी अभी नहीं लगी थी। दक्षिण हस्त ने पुस्तक पर कब्जा किया, वाम हस्त ने कुर्ता ऊपर उठाया, और एक क्षण के अन्दर 'रूप-नगर की राजकन्या' हृदय-कपाट में अदृश्य हो गई। पर अंगभूत बुद्धिपने की भीति तो थी ही। चेहरा ऐन मौके पर विश्वासघात न कर बैठे इसलिए 'अभी आया' 'अभी आया' ऐसा कहते और किसी के बुलावे का प्रत्युत्तर देने का आभास उत्पन्न करते हुए ओसारे में से अगले ढालान में और वहाँ से बड़े दरवाजे में होते हुए यह राजपूत वीर सही सलामत बाहर निकल आया ! मेरा जन्म राजपूताने का है, अतः मैं अपने को अभिमानपूर्वक राजपूत कहता हूँ और अब मेरे उपरिलिखित पराक्रम को सुनकर मेरे इस दावे को कौन अस्वीकार करेगा !

नहीं चाहिए यह राजकन्या !

अब, यह लाई हुई लूट कहां रखी जाय इस बात की उधेड़-बुन शुरू हुई । सीधे तीसरी मंजिल पर जाकर पहले मैंने उस बेचारी राजकन्या को निर्दयतापूर्वक टांड में डाल दिया । तत्पश्चात् दोपहर से मैंने उसे पढ़ना शुरू किया और रात तक खत्म कर डाला । हल्दीघाटी का युद्ध, सामलदास का स्फूर्तिदायक कवित्व तथा उन राजपूत वीरों के पराक्रम की गाथा पढ़ते-पढ़ते चित्त सुध-बुध खो बैठा । “पतियां लिखत है, छतिया फटत है, कलम न धरत है हाथ ! दुष्ट अलमगीर कपट कमायो राखो श्री हरिलाज ।” राजकन्या के इस पत्र के भीतर का वृत्तान्त पढ़ते ही मैं एकदम उठकर खड़ा हो गया । इधर-उधर देखने लगा, पर कोई नज़र न आया । मकान में सन्नाटा था । बाहर रास्ते पर भी सन्नाटा था । पुस्तक खत्म हो गई । रात भर नींद न आई । पुस्तक की सारी घटनायें आँखों के सामने खड़ी हो जाती थीं । थोड़ी-सी अधकच्ची नींद आती और फिर स्वप्न में वही घटनायें और तीव्रता से आ जातीं । तत्पश्चात् धीमे-धीमे वे सारी अद्भुत घटनाएं अदृश्य होने लग गईं । रात का अंधेरा कम होने लग गया । प्रभात हो आया । उसके साथ ही मस्तिष्क में विचार आया कि किसी को पूछे बगैर मैं जो यह किताब ले आया हूँ यह ठीक किया है क्या ? मैंने यह चोरी तो नहीं की, ऐसी शंका होने लगी । पुस्तक वाली राजकन्या ने पत्र लिखकर राजा को बुलाया था । मुझे पुस्तक ले जाने के लिए किसने कहा ? प्रश्न तो पैदा हो गया, पर उसका कोई उत्तर नहीं देते बना । ऐसा काम इससे पहले कभी किया नहीं था । अतः मन और ज्यादा घबराने लगा । कल अगर किसी को यह मालूम पड़ जाय कि यह पुस्तक मैं उठा लाया हूँ तो क्या होगा ? पढ़ने के लिए मांग ली होती तो नहीं मिल सकती थी क्या ? इस तरह के अनेक प्रश्न उठने लगे । किया हुआ

काम यदि पराक्रम मान भी लिया जाय तो भी उसे पुण्यकृत्य तो नहीं माना जा सकता । कुछ गलती हो गई ऐसा प्रतीत होने लगा । उसके बाद एकदम यह विचार आया कि पुस्तक जहाँ से लाया हूँ वहीं रख आऊँ तब तो ठीक हो जायगा न । इस विचार के आने पर आनन्द अनुभव हुआ । मन पर पड़ा हुआ बोझ उतरता हुआ-सा नज़र आया । उस मार्ग की बाधाएँ भी दिखाई देने लगीं । पुस्तक रखते समय किसी ने देख लिया तो ? किसी ने पकड़ लिया तो ? ले जाते समय कुछ बुरा कर रहा हूँ, यह भावना ही नहीं थी, और अब उसे वापस करते समय मन कुछ लंगड़ा-सा हो रहा था । अब काम कैसे होगा ? पुस्तक के ऊपर वाला चित्र कुछ उपाय निर्देश नहीं कर रहा था । सामलदास की कविता भी कोई प्रेरणा नहीं दे रही थी । राजकन्या का पत्र अब दुर्बल साबित होने लगा । काल-स्तब्ध नहीं है, यह एक अच्छी बात है, अन्यथा बड़ी विषमता उपस्थित होगई होती । सवेरा हुआ । कुछ देर बाद मैं उस मकान के दरवाजे तक गया । पर आदमी आ-जा रहे थे, मैं वापस चला आया !

छुटकारा

चार-पाँच मर्तबा मैं पुस्तक रखने के लिए गया, पर रख नहीं पाया । इसके बाद वह किताब घर पर ही पड़ी रही । मन अन्य बातों में लग गया और कुछ दिनों बाद हमारे घर में से वह 'रूपनगर की राजकन्या' अदृश्य हो गई । मुझे संतोष हुआ । मैं इस सारी घटना को भूल गया । उसकी दोबारा याद कुछ दिन पहले धारवाड़ के बाल-अपराधियों की पाठ-शाला में हुई । स्मृति आनन्दित कर रही थी, विषण्ण कर रही थी । इस समय प्राप्त अनुभवों से और उपार्जित ज्ञान से नाना प्रकार के विचार मन में उत्पन्न हुए । याद आया कि लोकमान्य ने एक जगह लिखा है कि ज्ञानप्राप्ति के लिए पुस्तकों का बुराना पाप नहीं है । आत्मवाक्य का प्रमाण

मिल गया। वकीली का ज्ञान कहने लगा कि अपराध यदि अपराध के इरादे से किया गया हो तभी अपराध होता है। जो वस्तु एकोपयोगी है, अर्थात् एक बार उपभोग लेने के पश्चात् जो नष्ट हो जाती है, उसका अनधिकृत उपभोग लेना चोरी है। परन्तु जो वस्तु बहुउपयोगी है उसका अनधिकृत उपभोग लेना चोरी कैसे हो सकती है? कारण वह वस्तु तो फिर बची रहती ही है। पुस्तक को एक ने पढ़ा, मालिक की अनुज्ञा के बग़र पढ़ा, तो वह कृत्य चोरी कैसे हो जायगा? सामाजिक पार्श्वभूमि का विचार न करके किसी काम को गुनाह साबित करना कैसे उचित कहा जा सकता है? सामने खड़े हुए लड़कों को यदि वास्तव में अपराधी साबित करना हो तो फिर मैं कैसे अपराध से बरी हो सकता हूँ? ज्ञान की लालसा से किया गया अपराध यदि अपराध नहीं तो जीवित रहने के लिए, बेकारी के कारण निराश होकर, किये गये कृत्यों को गुनाह कैसे कहा जाय? इस प्रकार के अनेक विचार सिर में दर्द पैदा करने लग गये। पर स्पष्ट कहूँ तो इन विचारों से मुझे संतोष ही हुआ। उस लड़के की ओर सहानुभूति से देखना जितना मेरे लिए सुलभ हो सका उतना मेरे अन्य सहकारियों के लिए न हो सका होगा। पर कौन कहे, उनमें से भी किसीने बचपन में ऐसा ही कुछ काम किया हो? एक बार मेरे मन में आया कि मैं अपनी यह स्मृति उन्हें भी सुना दूँ, पर उसी बीच वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि भोजन का समय हो गया है और मन की बात मन ही में रह गई। तथापि यह 'गुह्यात् गुह्यतरम्' मैंने आज कह डाला और अब मैं संतोष की सांस ले रहा हूँ।

स्वर्गीय भूलाभाई देसाई

“निःसंदेह प्रेम और जीवन मुझे आकर्षित करते हैं, तथापि स्वातन्त्र्य के लिए मैं इन दोनों का परित्याग करने में हिचकिचाहट महसूस नहीं करूँगा।” १९३२ के जुलाई महीने के अन्त में नासिक जेल के राजकीय कैदियों के समक्ष भाषण करते हुए स्व० भूलाभाई देसाई ने उपरिनिर्दिष्ट शब्दों में उपसंहार किया था।

सन् ३२ में नासिक जेल के अन्दर भूलाभाई देसाई तथा अनेक राजकीय कैदियों को भिन्न-भिन्न स्थानों में रखा गया था और उन्हें एक जगह लाने के लिए किये गये सारे यत्न असफल हो गये थे। जून के लगभग मैं और अन्य दस-बारह राजकीय कैदी नासिक जेल में आकर प्रविष्ट हुए और वहां आने के पश्चात् अनेक युक्तियों से, महीने में कम-से-कम एक बार इकट्ठे होने की अनुमति हासिल कर ली। उस पहले प्रसंग में भूलाभाई ने जो भाषण दिया था, उस समय के ये उद्गार हैं। एक वर्ष तक भूलाभाई हमारे साथ रहे। उनका व्यवहार सबके साथ मधुर

था। वह अपने साथ जो ग्रन्थ ले आये थे तथा उन्होंने हमें अपने व्यवसाय के अनुभवों की जो बातें सुनाई, उनसे हममें से अनेक को पर्याप्त ज्ञान तथा मनोरंजन हासिल हुआ था। उन दिनों हम उन्हें एक राजनीतिज्ञ पुरुष की अपेक्षा कालती पेशे में अत्युच्च शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्ति की दृष्टि से देखा करते थे।

पंत जी की सिकारिश

सन् ३४ में चुनावों के निमित्त से स्व० भूलाभाई देसाई के साथ स्थापित मेरा परिचय बढ़ता चला गया। सबसे पहले निकट परिचय का अवसर सन् १९२६ में 'नवाकाल अभियोग' के दिनों में आया। हमारे मराठी नाट्यच्छटा लेखक श्री दिवाकर के शब्दों का प्रयोग करते हुए कहना हो तो 'मैं भी उसमें था'। उस समय अदालत के सामने किया गया उनका बचाव का भाषण आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है। चुनाव के दिनों में यद्यपि उनके वक्तृत्व का विशेष बोलबाला नहीं हुआ, तो भी उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण व्यापारी वर्ग से मत प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिली।

चुनाव के पश्चात् १८ जनवरी १९३५ को डा० अन्सारी के भव्य प्रासाद में असेम्बली कांग्रेस-पक्ष के सभासदों की पहली बैठक हुई थी। कुछ लोगों के मन में था कि पं० गोविन्दवल्लभ पन्त को नेता चुना जाय। पन्त जी शरीर से जितने भव्य हैं, मन से तथा विद्वत्ता से भी उतने ही भव्य हैं। उनकी ओर देखते ही न्यायमूर्ति रानाडे का स्मरण हो आता है। न्यायमूर्ति रानाडे के समान ही प्रायः सब विषयों में उनकी पारंगतता है। भूलाभाई के सम्बन्ध में किसी का मन पूर्वग्रहदूषित था सो बात नहीं थी, तथापि कांग्रेस के राजनीतिक क्षेत्र में उनका प्रवेश अत्यन्त अभिनव था, एतावता यदि किन्हीं लोगों के मन में उनके प्रति किञ्चित् अविश्वास

की भावना काम करती थी तो वह क्षम्य ही थी। तथापि स्वयं पंत जी ने नेतृत्व के लिए भूलाभाई का नाम सुझाया था, अतः नेतृ-निर्वाचन के समय प्रायः सदा उत्पन्न होने वाले एक दृष्टि से अत्यन्त नाजुक और एक दृष्टि से अत्यन्त नाशकारी सारे बखेड़े दूर हो गये।

दयिता का दंतव्रण

भूलाभाई देसाई ने १९३५ से लेकर १९४४ के अन्त तक मध्यवर्ती धारासभा के कांग्रेस-पक्ष का नेतृत्व किया। उनके नेतृत्व और कर्तृत्व पर विस्तारपूर्वक अपनी राय जाहिर करना इस समय अप्रस्तुत एवं अप्रासांगिक है, तथापि किन्हीं बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उनके पहले भाषण से लोग इतने मुग्ध हो गये थे कि उनके भाषण के पश्चात् कर्नल गिडने ने खुले आम यह कहा कि ऐसा वक्तृत्व यदि राउन्ड-टेबल-कांफ्रेंस के समय हुआ होता तो भारत के राजकीय इतिहास की रूपरेखा ही भिन्न हो जाती।

उनका वक्तृत्व अत्यन्त मधुर था। कभी कुछ कठोरता रही भी तो वह दयिता के दंतव्रण जितनी ही रहती थी, ऐसा यदि हम कहें तो इसमें सदाभिरुचि में कोई बाधा आयेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आह्वान की अपेक्षा आवाहन से, आवाज़ की अपेक्षा आशय में, वह श्रोतृवृन्दकी हृदय ग्रन्थियों को खोला करते थे। उनके भाषण के अनन्तर होने वाला परिणाम मानवीय मन के लिए अंगभूत सौजन्य ही का परिणाम हुआ करता था। वहस के लिए आने वाले विषयों के बारे में विस्तार से तैयारी वह शायद ही कभी किया करते थे। इतना ही क्यों, घटो होने वाले अपने भाषणों के लिए भी वह कभी नोट नहीं लिया करते थे। पर उनके भाषण में एक के पीछे एक मुद्द सुव्यवस्थित और सुसंगत रूप से रचे हुए दिखाई दिया करते थे। वाद-विवाद में अनेक बार शब्द-रचना के तथा

अन्य मुद्दों के बारे में उलझनें पैदा हो जाया करती थीं, पर वस्तुस्थिति का आकलन तथा आवश्यक अभिप्राय को व्यक्त करने वाली शब्द-रचना वह इस प्रकार लीलापूर्वक किया करते थे कि हम सब आश्चर्य विमुग्ध हो जाते थे ।

कृष्ण की मुरली

प्रसिद्ध क्रिकेट पटु जैक हाब्स का वर्णन करते हुए ए० जी० गार्डिनर ने कहा है कि “बैट क्या था हाब्स का आगे बढ़ा हुआ हाथ का हिस्सा ही था !” भूलाभाई के विषय में भी कुछ वैसी ही बात थी । सभा-गृह में उनके व्यवहार को देखकर हमें यही प्रतीत हुआ करता था कि वह व्यवहार उनकी व्यक्तिमत्ता का ही आगे बढ़ा हुआ हिस्सा है । उनका भाषण होने वाला है, यह पता चलते ही प्रेक्षकों की गैलरी, सारी सभागृह, अधिकारी वर्ग आदि बड़ी उत्सुकता से उपस्थित रहता था तथा कृष्ण की मुरली की भांति उनके मनोहारी वक्तृत्व का आकंठपान किया करता था ।

मृदुपूंजी वाले

भूलाभाई निर्दोष थे, ऐसा कोई नहीं कह सकता । विश्व में ऊपर विनायक और नीचे संपादक को छोड़ सभी दोष-सहित हैं । अनेक बार बड़े-बड़े प्रश्नों के विषय में उनकी विचारधारा हमारी दृष्टि में अशुद्ध रहा करती थी । आर्थिक विषय में उन्हीं के शब्दों में कहें तो वे मृदुपूंजी वाले (मिडीगेटेड कैपीटलिज्म) व्यक्तियों की कक्षा में आते थे । मजदूरों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण मूलग्राही नहीं था । तथापि सहानुभूति उनमें परिपूर्ण थी । सार्वजनिक हड़ताल के बारे में जब बिल आया था, उस समय मुझे उनके साथ एक घंटे तक झगड़ना पड़ा था और वह भी इतना कि वह थोड़ा क्रोधपूर्वक बोले, “तुम इस प्रकार तर्क कर रहे हो, मानों कोई न्यायाधीश के सामने बहस कर रहे हो !”

मैंने कहा, “आप कुछ भी कहिए पर मेरा कहना कांग्रेस की आज तक की नीति के अनुकूल है।”

उन्होंने बापूजी अण्णे से सलाह ली और मेरा कहना मंजूर कर लिया। यही वृत्ति उनकी विशेषता थी। अपनी नेतागिरी प्रदर्शित करना अथवा औरों पर लादना उनकी वृत्ति में नहीं था और उसके कारण उत्पन्न होने वाले गुणों एवं दोषों दोनों के वह एक उत्कृष्ट उदाहरण थे। अपने और अपने अनुयायियों के बीच किसी समय कोई मतभेद उत्पन्न हो जाता था तो वह श्री अण्णे की सलाह लेते थे और प्रायः उसके अनुसार आचरण करते थे, यह एक उल्लेखनीय बात है।

राजनीति—जीवन का खेल

प्रारम्भ में सभागृह के अन्दर मिलने वाली जय और पराजय उन्हें आनन्दित और दुःखित किया करती थी। जो स्थितप्रज्ञता इस सम्बन्ध में पत और सत्यमूर्ति में थी, वह प्रारम्भ में भूलाभाई में नहीं थी। क्वेट-भूकंप के स्थगन प्रस्ताव पर हमारा सिर्फ दो मतों से पराभव हुआ था। उसके बाद जब हम अपने पक्ष-कार्यालय में आये उस समय वह बहुत देर तक व्यथित होते रहे। पराभव उनके चित्त को कचोटे जा रहा था। उस समय सत्यमूर्ति ने उनसे कहा कि पार्लिमेंटरी जीवन में मनुष्य को उसी स्थितप्रज्ञता से व्यवहार करना चाहिए जिससे वकील अदालत में किया करता है। ऐसा कह कर सत्यमूर्ति ने अगले दिन के काम के सम्बन्ध में चर्चा की। उस समय भूलाभाई ने अर्थपूर्ण उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था—“राजनीति वकालत नहीं है बल्कि वह जीवन का एक खेल है।”

गलती हुई जरूर

उनका स्वभाव अपने सहकारियों के बारे में अत्यन्त प्रेम भरा था। वह कहा करते थे कि हम सब एक ही परिवार के अंग हैं। उनका व्यवहार

भी वैसा ही था। पक्ष-कार्यालय के खर्च का सबसे बड़ा हिस्सा उन्हीं की जेब से आया करता था। यद्यपि उनके और उनके अनुयायियों के सम्बन्ध स्नेह और सहकार्य से पूर्ण थे पर किन्हीं-किन्हीं मौकों पर वांचिक मुठभेड़ हो जाया करती थी। एक प्रसंग मुझे स्मरण हो आता है। बीमा कानून की बहस के मौके पर उन्होंने जो भूमिका उपस्थित की थी वह पक्ष के निर्णय से थोड़ी सी हट कर थी। ज्योंही उन्होंने यह भूमिका उपस्थित की त्योंही पक्ष में नाराजगी पैदा होगई। इस घटना पर विचार करने के लिए आयोजित सभा में खड़े होकर उन्होंने कहा—“मैंने गलती की है, आप का विश्वास हो तो मैं आपका नेता बना रहूँगा, अन्यथा हट जाऊँगा।” और तत्काल उनकी आँखों में अश्रु आगये और वह नीचे बैठ गये। दो मिनट सभा में स्तब्धता छाई रही। उसके बाद मैंने कहा, “प्रजातांत्रिक नेतृत्व कैसा होना चाहिए, इसका उत्कृष्ट पाठ आपने हमारे सामने रखा है। हमारा आप पर पूरा विश्वास है और जो कुछ हो गया है उसे रेकार्ड पर छोड़ दिया जाय।” मेरा सुझाव सर्वसम्मति से मंजूर हो गया और पक्ष के निर्णय के अनुसार ही बीमा कानून में संशोधन हो गया।

विश्वासी-पक्ष नेता

एक और नाजुक प्रसंग में, जिसमें उनके वैयक्तिक व्यवहार ही कारणीभूत था, इस प्रकार की अवस्था पैदा हो गई थी। उस समय उनके विरुद्ध बवंडर उठ खड़ा हुआ था। उन्होंने पक्ष के सामने भाषण देते हुए कहा—“मैं यदि ठीक हूँ तो आप मेरे पीछे आयेंगे ही, पर आपकी निष्ठा की परख तो तब है जब आप मेरे गलती करने पर भी मेरे पीछे चलें।” निःसन्देह पक्ष ने इस परख को मान्य नहीं किया। कारण, इस बार की गलती उनके वैयक्तिक आचरण से सम्बन्ध रखती थी। इस प्रकार के दस बरसों के इक्के-दुक्के प्रसंगों को छोड़ दें तो यों पक्ष का

उनपर शत-प्रति-शत विश्वास था ।

प्रतिकूल परिस्थिति का शिकार

जेल में रहने वालों के मत और बाहर के व्यक्तियों के व्यापार के बारे में पक्षनिष्ठ दृष्टि से जो अप्रचार हुआ, यह साफ है कि उसी का प्रभाव भूलाभाई के राजनीतिक जीवन पर पड़ा । आज़ाद हिन्द फौज के मुकदमे में उनके द्वारा की गई देश-सेवा तथा वकालत में प्रदर्शित किया गया नैपुण्य, बचाव के काम में व्यक्त की गई अलौकिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की उच्च एवं नीतियुक्त भूमिका आदि बातें तो नये इतिहास की वस्तुएँ हैं ।

भूलाभाई क्रांतिकारक नहीं हैं, ऐसा कहकर उनको बदनाम करना उचित नहीं; क्योंकि उन्होंने बसैसा दावा कभी नहीं किया । प्रयत्नों की पूर्ति पाश्चात्य देशों में सत्ताप्राप्ति अथवा अधिकार प्राप्ति से होती है । अधिकार प्राप्ति का अर्थ है मानवीय विधायक कर्तृत्व के लिए प्राप्त हुआ सुवर्ण अवसर । गत पचास बरसों का इतिहास इसी बात का साक्ष्य है कि इन बरसों में क्रांतिवृत्ति वाले ही नहीं, अपितु अनेक कर्तृत्ववान् व्यक्तियों तथा उनकी विधायक वृत्तियों को पनपने का उचित अवसर नहीं मिल पाया, जिसके फलस्वरूप उनकी कीमत मिट्टी के बराबर होगई । अनेक वर्षों से भूलाभाई की योग्यता की जानकारी होते हुए भी, उनके गुणों को मान्यता प्राप्त होने पर भी, उन जैसे व्यक्ति को सरकार विरोधी पक्ष में काम करना पड़ा, यह एक दुर्भाग्य की वस्तु है ।

बड़ा भाई चला गया

विधायक वृत्ति वाले तथा कर्तृत्ववान् व्यक्तियों को सत्ता नहीं मिल पाती और जो व्यक्ति क्रांतिकारक प्रवृत्ति वाले हैं उन्हें अप्रिय प्रतीत होने वाले विधायक कार्य में लगाया जाता है, ये दोनों बातें इस देश में एक

ही समय में हो रही हैं ! भूलाभाई और अधिक काल तक जीवित रहते तो इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अधिक कार्य करके दिखाया होता । उनकी मृत्यु से एक उत्कृष्ट वकील, एक उत्तम नागरिक तथा एक ईमानदार कार्यकर्त्ता लुप्त होगया और व्यक्तिशः कहना हो तो, बहुतों को यह प्रतीत होता है कि हमारा एक बड़ा भाई ही चला गया !

खटबुने की फुकार

मन-ही-मन उद्भूत होने वाले विचारों का प्रभाव स्वयं मन पर पड़ता है। कोई आनन्ददायक विचार आया कि मन तत्काल प्रसन्न हो उठता है, इसी तरह यदि कोई दुःखद विचार मन में आया तो समस्त मानसिक वातावरण उदास हो जाता है। मन के अन्दर के विचार मन ही सुनता है और तदुद्भूत प्रभावों का अनुभव करता है और जब मनोगत विचार वाणी द्वारा बहिर्गत होते हैं तब उनका आकर्षण बोलने वाला भी करता है और सुनने वाला भी करता है।

मनुष्य ने स्वतः एकान्त में कुछ गुणगुनाया अथवा दर्पण के सामने खड़े होकर मुँह टेढ़ा-मेढ़ा करके एकाध शब्दों का उच्चारण किया तो उस समय वह स्वयं श्रोता का काम कर रहा होता है और उसके अपने शब्दों का ही उस पर तथा उसके मन पर प्रभाव पड़ा करता है। शब्द का स्वयं वक्ता पर जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा श्रोता पर भी पड़ता है। मगर यह प्रभाव कितना पड़ता है, कैसे पड़ता है, किस प्रकार पड़ता है

यह सब श्रोता की मनःस्थिति पर अवलंबित रहता है। बोलने वाला बोल जाता है, अनेक बार उसे यह भी ज्ञात नहीं रहता कि उसके सामने श्रोता खड़े हैं, किंबहुना वह किसी व्यक्ति-विशेष को उद्देश्य करके बोल रहा होता है, सो बात भी नहीं रहती। कितनी ही बातें सामाजिक परम्परा के वशीभूत होकर अथवा प्रचलनक्रम के वशीभूत होकर कही जाती हैं। सबेरे के समय वासुदेव गाता हुआ फेरा लगाता है। श्रोता की मनःस्थिति के अनुरूप विचार उस गाने को सुनकर उठा करते हैं। रात के समय कोई फकीर दाँह गाता हुआ आता है। उनके भीतर रहने वाले भाव कुछ श्रोताओं के चित्त पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं और कुछ व्यक्तियों के चित्त पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

सबेरे से लेकर रात होने तक चाँखते-चिल्लाते जाने वालों का, काव्य-पाठ करते जाने वालों का, भिन्न-भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में अथवा अन्य किन्हीं सुविधाओं के सम्बन्ध में ऊँचे स्वर से पुकारते हुए गलियों में संचार करने वालों का यदि लेखा-जोखा किया जाय तो हमारा जीवन कितनी विविधताओं से भरा हुआ है इस बात का परिज्ञान होगा। प्रत्येक कविता, प्रत्येक पुकार समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओं का प्रतिबिम्ब लिये रहती है। समाज की प्रथाओं का सार उसमें समाया हुआ होता है। समाज के सुख-दुःखा का हिसाब उन्हें देखकर कोई लगाने लग जाय तो वह उसका अप्रयास न होगा। इतना ही क्यों उन्हें देखकर इस बात का परिज्ञान भी होता है कि समाज में आध्यात्मिक भावना का स्तर किस प्रकार का है।

शब्द में कितनी विराट् शक्ति है ? उपनिषद् में ब्रह्म का शब्दस्वरूप में वर्णन किया गया है। शब्द में अन्तःकरण से लेकर पर्वत पर्यन्त समस्त सूक्ष्म एवं समस्त जड़ वस्तुओं एवं भावनाओं को भेदने की शक्ति है। उन्हें मिलाने की भी शक्ति है। आशा एवं निराशा, सुख एवं दुःख दोनों

प्रकार की भावनाओं को प्रसूत करने वाला यह महान् शब्द अनेक बार एक ही व्यक्ति के मन में दोनों भावों को एक ही साथ उत्पन्न करता है ।

यह अनुभव जहां विचित्र है वहां कुतूहल उत्पन्न करने वाला भी है । वास्तव में वह हरिजन जो हर रोज सबेरे आठ या नौ बजे के समय हमारी गली में से होकर “चारपाई और बच्चे का पालना बनवालो !” चिल्लाता हुआ जाया करता था सो कोई दुनिया के विरुद्ध बात करता है, ऐसी बात नहीं थी । विश्व की रीति के अनुसार इस पूना जैसे बड़े शहर में हर रोज पांच-पचास प्राणी जन्म लिया करते हैं और इसी कारण इस वृद्ध हरिजन का सामाजिक जीवन में स्थान है । अतः जिस समय वह उपर्युक्त स्वरूप की घोषणा किया करता है उस समय वह अपना नित्यकर्म ही किया करता है । मेरी स्मृति-शक्ति जिस सीमा तक काम करती है उस कालसीमा से उसका यह नित्यकर्म चालू ही है । जन्म लेने वाले बालको की सुविधा का खयाल करने वाला, एक दृष्टि से अनन्त उपकार करने वाला, यह पुण्य पुरुष कुछ अजरामर तो है नहीं, किंबहुना प्रतिक्षण यह भी मरणाभिधावी मार्ग पर आगे बढ़ता जा रहा है । पूना शहर इतना बड़ा, पर अपने दैनिक व्यवसाय का आरम्भ वह हमारी गली ही से करता था, मेरी सम्मति में इसका कारण भी पर्याप्त महत्वपूर्ण था । हमारी गली से श्मशान बिल्कुल सटा हुआ है । हमारा पड़ोस मानो मृत्यु ही का पड़ोस है । रात को अगर कभी वहां गैस की बत्ती नजर आई तो समझना चाहिये कि अवश्य ही अंधेरे में किसी का मार्ग प्रदर्शन करती हुई वह उसके लिए जीवन की परिबन्ध-रेखा के पर पहुँचने का सामान तैयार कर रही है । कान्ति के सारे रास्ते अन्ततः श्मशान ही में जाकर विराम पाते हैं । मालदार, भाग्यवान, गुणवान तथा दुःखी दरिद्री, नसीब के मारे सब हमारी गली के इस श्मशान घाट पर आकर, इच्छा हो या नहीं, साम्यवादी बन जाते हैं ।

कहना चाहिए बना दिये जाते हैं। एतावता इस दृष्टि से पूने के सारे रास्तों का अन्त इसी पवित्र भूमि में होता है। और यह हरिजन भी ठीक इसी जगह पर नदी को पार करके अपने नैतिक उद्योग का श्रीगणेश किया करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने इस घोषणावाक्य से गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च' वाले सिद्धांत की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। व्यक्ति आया और चला गया पर मानवीय जीवन का प्रवाह अजस्र रूप से गतिमान है। यात्री आयेंगे और चले जायेंगे, पर मार्ग उसी प्रकार विद्यमान रहेगा। मानवीय जीवन की स्पन्दनशीलता जब तक अनवच्छिन्न है तब तक हमारे इस हरिजन का काम भी चलता ही रहेगा। वह चला जायगा तो उसके कम का उत्तराधिकारी उसके काम को करता चला जायेगा यह जाहिर है। उसका कार्य अखंड और अजरामर है। मानवीय जीवन भी अखंड और अजरामर है। एतावना समाजगत व्यक्ति के मन के भाव भी इसी प्रकार अखंड इसी प्रकार अजरामर रहा करते हैं। हम मर जायेंगे, आज नहीं तो कल चले जायेंगे, पर मानवीय मन में यह लालसा बनी रहती है कि हमारे पीछे कोई-न-कोई अवश्य बना रहे। धर्मशास्त्र इस लालसा का कारण भले हा पिंडादक क्रिया की कामना को बतायें, पर निश्चित ही मानव मन इस लालसा को किसी अन्य ही हेतु से स्वीकार करता है। भोगेच्छा को पुनीत करने वाली यह भावना है। अपत्य लालसा नित्य की अनित्य पर विजय प्रदर्शित करने वाली पार्थिव वस्तु में उत्पन्न होकर अपार्थिव एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए कारणीभूत होने वाली एक महान् शक्ति है। निःस्वार्थता की चरम सीमा तक पहुँचने के अर्थ प्रोत्साहन प्रदान करने वाली एक प्रेरणा है।

महाश्वेता

और यदि ऐसा न हुआ होता तो मैंने अपनी गली के मोड़ पर रहने वाली महाश्वेता के लिए मन-ही-मन आदर का स्थान न प्रदान किया होता। मैं उस कुलवधू को महाश्वेता कहता हूँ, इसका केवल यही कारण नहीं कि वह श्वेत कपड़े पहना करती है, प्रत्युत यह कि उसके आचार और विचार भी उतने ही पवित्र हैं। लगभग एक चौथाई सदी पहले लोगों ने उसे प्रथमतः बड़े सजधज से निकलने वाली बारात में देखा था। उस समय वह “दश दोष विवर्जिता” नववधू के रूप में हमारे मुहल्ले में आई थी और गृहिणी बनी थी। घर के सभी छोटे-बड़े उसे स्नेह से देखते थे। इतना ही नहीं अड़ौस-पड़ौस के लोग भी उसकी तारीफ़ किया करते थे। बरस के बाद बरस आये और गुजर गये, वृद्ध सास और ससुर ने प्रपंच रिचालन का सारा भार उसके ऊपर डालकर इहलोक से बिदा ले ली। वे लोग आखिरी दिनों में कुछ-कुछ उदास ही से रहते थे। कारण पौत्र-मुख देखने का सौख्य उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाया था। इतनी बड़ी दौलत, इतना बड़ा नाम, पर उत्तराधिकारी कोई नहीं, इस जानकारी की आंच चालू पीढ़ी के पति-पत्नि तक पहुँचती जा रही थी। और प्रतिदिन उन्हें इस बात की जानकारी वह वृद्ध हरिजन अपनी पुकार से करवा दिया करता था तथा इस समय भी कराता रहता है।

जब-जब वह सवेरे पैर में फटा-पुराना जूता पहन, कमर में मैली-कुचैली धोती लपेटे, जर्जर हुए से मुँडासे (मुँडोष्णीष) को सिर पर बांध तथा कंधे पर चारपाई की बान लटकाये हमारे दरवाजे के सामने से (चारपाई और बच्चे का पालना बुनवालो!) चिल्लाता हुआ जाता है तब मेरे मन में आता है कि एक सौ चालीस धारा लगा कर उसका आना

ही बन्द कर दिया जाय । अब तक दस-बारह बार हमने घर में उसे काम करने का मौका दिया । तो भी यह अति तृष्ण फिर हमसे अपनी ग्राहकी करवाना चाहता है, इसके क्या मानी हुए ?

पर राजनीति के अनेक धक्के-चपेटे खाकर, दुनिया के अनेक अनुभव हासिल करके मैं अब पूरा विवेकी बन गया हूँ । मेरा यह कबूली जवाब “प्रभावी नेतृत्व” के लिए मुझे भले ही नालायक साबित करता हो तथापि “विधायक कार्य” के लिए मैं अनुपयोगी नहीं हूँ, इस बात को अवश्य जाहिर करता है । इतनी बात जरूर है कि मैं उस पर दूटा नहीं पड़ता हूँ । और मैं इतनी आतुरता दिखाकर करूंगा भी क्या ? आड़े वक्त सामर्थ्य धारण करना जैसे प्रभु की देन है, उसी प्रकार सन्तान की प्राप्ति भी प्रभु की देन है, ऐसी मेरी अनुभवों के पश्चात् निर्मित हुई धारणा है ।

विश्वगत वैषम्य एवं नैर्घृण्य का अवलोकन करके किसी चार्वाक को प्रतीत होगा कि ईश्वर इस जगत् का कारण नहीं है । पर अन्य व्यक्ति कहेंगे कि इन्हीं बातों के लिए ईश्वर को जगत् का कारण मानना चाहिए । अपमार्ग किवा अयुक्तमार्ग से उपार्जित की हुई सम्पत्ति को समाज परमेश्वर की देन मानता ही है न ? इसी न्याय से समाज दारिद्र्य और कष्टों को भी सहन करने की सीख दिया करता है । और यह हमारे समाज की सीख जीवन की नैतिक प्रतिष्ठा है । इससे जहां सामाजिक संघर्ष कम होता है वहां वैषम्य में भी मानसिक समाधान मानने में विवेक माना जाता है । और इसी कारण से औरस सन्तान के अभाव में औरों के लड़कों को अपना लड़का मानकर चलने वाली स्त्री समाज में उन्नत वातावरण निर्माण किया करती है ।

हर रोज प्रातःकाल इस वृद्ध समाज-सेवक के घोषणा-वाक्यों के द्वारा अपने आयुष्य के वर्म के, जीवन की अपूर्णता के, मन के भीतर गहवाई

तक पहुंचे हुए विषाद के, स्पष्ट रूप में आंखों के समक्ष उपस्थित किये जाने पर उसे शांत भाव से देखना और श्रवण करना कोई आसान काम नहीं है। स्त्री के लिए वन्ध्यत्व से बढ़कर अन्य कोई दारुण दुःख नहीं है। और जिस स्त्री को इस बात का ज्ञान हो कि इस वन्ध्यत्व के कारण वह समाज का शृण नहीं उतार सकती, उसके लिए यह जीवन क्षण-क्षण के लिए मरणप्राय हो जाता है। केवल अपने गुण ही नहीं प्रत्युत अपने दोषों को भी अपनी सन्तति में अवतीर्ण हुआ देखने में माता-पिता को एक प्रकार का सूक्ष्म आनन्द हुआ करता है। क्यों होता है यह कौन बता सकता है, और किन शब्दों में बता सकता है !

मातृत्व से स्त्री-जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है तथा पराक्रम से पुरुषार्थ सिद्ध होता है। मुसोलिनी कहा करता था कि राष्ट्रीय पराक्रम, धैर्य, स्वार्थ-त्याग इत्यादि बातों के लिए युद्ध द्वारा अवसर प्राप्त हुआ करता है। एत-एव राष्ट्र के परिपूर्ण विकास के लिए युद्ध की आवश्यकता है। अथ, स्त्रियों के बारे में वह कहा करता था कि उनके सद्गुणों के विकास के लिए मातृत्व की आवश्यकता है। आज इंग्लैण्ड में दो लाख प्रौढ़ कुमारियों की विद्यमानता के कारण एक बड़ी भारी सामाजिक समस्या उत्पन्न हो गई है। विवाह के अभाव में तथा विवाह जिस सुख एवं जिस पूर्णता का कारण है उस अपत्य सुख के अभाव में इन कुमारिकाओं का जीवन अस्थिर तथा भ्रान्त हो गया है। सामाजिक जीवन में बहुत बड़े पैमाने पर असमाधान का रहना समाज के लिए एक भारी खतरे की बात हो जाती है। प्राप्त परिस्थिति को दैवायत्त वस्तु कहकर सन्तोष मानने के लिए कहने वाला बेदान्त उस देश में नहीं है। दैववाद के कारण मनुष्य प्रयत्न-पराङ्मुख हो जाता है यह सत्य है, तथापि जीवन के किन्हीं क्षेत्रों में संचार करने के लिए उसे खुला छोड़ दिया जाय तो समाज का कोई बहुत बड़ा अनर्थ हो

जायगा ऐसी बात नहीं है।

एतादृश दैववाद पर आत्यान्तिक विश्वास रखकर धीरगम्भीर भाव से अपने जीवन-पथ का अनुक्रमण करने वाली इस भगिनी की ओर जब मैं देखता हूँ, मेरा मन नम्र हो उठता है। हर रोज ठीक आठ-नौ बजे के करीब सवेरे वह अपने मकान के छप्पे पर आजाती है और विवाह-संस्कार के समय गौरीहर नामक विधि के लिए बैठते समय नववधू के मन में जो उत्सुकता, जो मीठी बेचैनी उत्पन्न होती है, बिलकुल उसी उत्सुकता से वह उस वृद्ध हरिजन का मार्ग देखा करती है। सूर्य कभी उदित होना भूल जाय, पर वह अपने पूना-निवास के दिनों में अपने छप्पे पर आना कभी नहीं भूलेगी।

वह हरिजन रास्ते पर चलता जाता है और हर एक मिनट के पश्चात् मराठी में “बाज-पालणा विणायचा आहे का बाज-पालणा” इस प्रकार चिल्लाता हुआ जाता है। दृष्टिपथ में आने से लेकर दृष्टिपथ से निकल जाने तक अनिमेप नेत्रों से उस वृद्ध को देखने वाली, श्रुतिपथ में आने से लेकर श्रुतिपथ से बाहर जाने तक उसके उन शब्दों को कान लगाकर सुनते हुए खड़ी होने वाली इस भगिनी का दृश्य मैं अनेक वर्षों से देखता चला आ रहा हूँ। मैं समझता हूँ यदि किसी दिन ऐसा घटित न हो तो उस दिन निश्चय ही सारा दिन उसे सूना-सूना-सा तथा दुर्दिन का-सा होता होगा। जख्म को अगर थोड़ा धक्का लगता जाय तो दुःख होता है, पर उसके साथ ही थोड़ा भला भी महसूस होता है। हरिजन के शब्द कान में पड़ते ही उसके मन में कौन-सा भावना उत्पन्न होती होगी? किस प्रकार के विचार आने लगते होंगे? दुःख के, मत्सर के, असन्तोष के, अथवा अन्य ही किसी प्रकार के? पड़ौस के वक्चं जब उसके पास आते होंगे और प्रसंग-वशात् कभी उनके मुंह से “आई” (माँ) शब्द निकलता होगा, तब उसे

क्या प्रतीत होता होगा ? उसके मन में यह न आता होगा कि कोई उसे भी इसी शब्द से सम्बोधित करने वाला हो ?

मन की भावनाओं को आज नहीं तो कल उचित शब्द मिल जायगा । कम-से-कम टेढ़े-मेढ़े ही क्यों न हो, किसी-न-किसी प्रकार के शब्दों में वे व्यक्त किये जा सकेंगे, पर इस बहन के लिए जीवन का स्वरूप ही उलटा है । उसके लिए शब्द विद्यमान है, पर उसमें अर्थ नहीं है । अपत्यहीन जीवन का अभिप्राय हुआ अर्थ हीन शब्द । आशय शून्य ध्वनि तथा स्वर-रहित संगीत । बच्चे हैं, पर वह मां शब्द, जो कीमिया की भाँति दुःख को सुख बना सकता है, बीरान मुल्क को गुलजार कर सकता है, मलिनता का प्रक्षालन करके मांगल्ल का निर्माण कर सकता है, उच्चारित नहीं हो पाता, इसे कितना बड़ा दुर्भाग्य कहूँ ? जब उसकी इस न्यूनता को प्रदर्शित करने वाले विचार उसके मन में आकर उसे बुरी तरह विषण्ण कर डालते होंगे, उस समय वह उन उद्भूयमान भावनाओं को बहिर्निगम का मार्ग किस प्रकार करती होगी ? भावी आशा का प्रलोभन देकर या किसी अन्य ही मार्ग से ? इस समय भी आशा उसके मन में अविशिष्ट रही हो तो कहना होगा कि आशा ने अनुभव को परास्त कर दिया । नहीं मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

जिस मानसिक सन्तोषपूर्ण वृत्ति से वह दिन भर व्यवहार करती है, दुनिया के व्यवहारों की ओर वह देखा करती है, उससे यही प्रतीत होता है कि उसने अपनी दृष्टि अधिक सामाजिक तथा अधिक प्रगल्भ बना डाली है, एवं अपनी वैयक्तिक न्यूनता को नास्तिक्य प्रद कर डाला है । अपने जीवन को व्यापक बनाकर उसने अपने आपको निर्दोष तथा अधिक मनोशुद्ध बनाया है, बारहों के दिन उपस्थित रहने में उसे जितना आनन्द आता है, उतना अन्य किसी भी बात में नहीं आता । बच्चे के नामकरण-संस्कार के दिन

प्रसूता को जो भेंट दी जाती है उससे अधिक उदात्त एवं पुण्यकारक दान उसके लिए अन्य नहीं है । अपने मुहल्ले की सब माताओं के भीतर जिसने अपने मातृत्व का साक्षात्कार किया, उसे यदि हम जगन्माता का पद प्रदान करें तो अयोग्य न होगा । इतना मत्सरहीन, इतना सन्तोषपूर्ण जीवन गान्धारी को भी नसीब न हुआ होगा । और इस सब बात का निमित्त सीधी-सादी प्रतीत होने वाली पर अनेक जीवों पर अनेक प्रकार से प्रभाव डालने वाली हमारे हरिजन के मुंह से निकलने वाली “पालणा विणायन्ना आहे का बाजपालणा ?” यह पुकार ही है न ?

नामदों को दुनिया जीने नहीं देती

“नामदों को दुनिया जीने नहीं देती” ये शब्द ज्योंही उस कवि के मुँह से निकले त्योंही सहस्रावधि श्रोतृ-कंठों से भी वे शब्द उतने ही जोर से और जोश से बहिर्गत हुए। हृदय के उल्लास तथा चित्त की तन्मयता ने उस ध्वनि को शीघ्र ही अभिनय में परिणत कर दिया। आवेश में आकर सैकड़ों व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर उठ खड़े हुए और हाथ के अभिनय से उक्त पंक्ति की भावना की तीव्रता को मुट्ठी तान-तानकर व्यक्त करने लगे। अगर कोई बहरा आदमी वहाँ बैठा होता तो उसे भी उसके अर्थ का ज्ञान हो गया होता। ‘जीने नहीं देती, हां, हां जीने नहीं देती’ इसे टेक बनाकर वह विशाल जनसागर गर्जना कर रहा था। नीचे और ऊपर किये जाने वाले हाथों को देखकर सचमुच ही समुद्र की लहरों का भास होता था। रात्रि के उस प्रशांत प्रहर में भेल्लम घाटी के कोने-कोने को स्पर्श कर बहने वाला पवन इस ध्वनि को द्रुतगति से किलमर्ग से परे के शत्रु देश में पहुँचाकर मानो शत्रुओं के

हृदयों को विदीर्ण करने के लिए आकुल हो रहा था। मध्य-रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। आकाश में शुक्लपक्ष की तृतीया का चांद लुप्त हो चुका था, मानो उस मर्जलिस में प्रतिक्षण अभिनव तेजस्विता से दीप्त होने वाले वातावरण को देखकर उसने अपना मुंह ही छिपा लिया हो। ऊपर नील आकाश में सैंकड़ों तारे आंखें खोल-खोलकर नीचे की सृष्टि के इस अपूर्व उत्साह का अवलोकन कर रहे थे। चांद इन तारों का साथ छोड़कर शायद इसलिए भी चला गया था कि उसे पाकिस्तानी गुप्तचर मानकर लोग कहीं उस पर हमला न कर बैठें। वह रात उस प्रदेश के इतिहास में निस्संदेह अभूतपूर्व थी। वे दूरस्थ पर्वत भी जो इतिहास के आरम्भ से ही कालचक्र का भैरव नर्तन अपनी आंखों से देखते आये हैं, यह समझ कर कि कदाचित् यहाँ कोई नई बात हो रही है, घटनास्थल के और भी समीप आये हुए प्रतीत होते थे। यह मुशायरा काशमीर की उस सुहावनी घाटी में हो रहा था जहाँ निसर्ग ने अपना सारा सौंदर्य खुले हाथों बखेर रखा है। जिस प्रकार मकान मालिक किरायेदारों के काम में आने वाले मकानों का निर्माण करने के पश्चात् स्वयं अपने रहने के लिए एक शानदार मकान बनवाता है, उसी प्रकार सृजनकार्य की समाप्ति पर परिश्रान्त विधाता ने सम्भवतः विश्रान्ति के अर्थ इस रम्य घाटी का निर्माण किया होगा।

हां, तो श्रोतागण बार-बार हाथों को नचा-कुदाकर आवेश में कह रहे थे—“दुनिया जीने नहीं देती” ‘जीने नहीं देती’ वह कवि भी बार-बार उन्हीं पदों को पढ़कर लोगों को प्रेरित कर रहा था। मुट्ठद शरीर, शुभ्र खादी के कपड़े, सिर पर ठीक बाँचो-बीच बाल उड़े हुए और चारों ओर के बाल बढ़े हुए लम्बे और धुंधराले। उन बालों की रचना को देखकर इच्छा होती थी कि उसकी उपमा उस पर्वत से दी जाय, जिसके शिखर

तो बर्फ से लदे हुए होते हैं किन्तु जिसके नीचे का भाग लम्बे-लम्बे घने वृक्षों से आच्छन्न होता है। उस कवि का भाल-प्रदेश भव्य और उसका रोब-दाब सहज ही किसी भी व्यक्ति के हृदय पर अपनी छाप बैठा देने वाला था। “समुद्रों को धो डालो”, “आकाश को लपेट डालो”, “पहाड़ों को तोड़-फोड़ डालो”, “फूलों को लेना है तो चांटों को मसल दो।” “कांटों को मसल दो” श्रोता लोग इस पंक्ति को भी आवेश के साथ दुहराने लगे और एक अजीब मस्ती के साथ भूमने लगे। कृष्ण के बारे में सुना है कि उसने अपनी मुरली की तान से गोपियों को मुग्ध करके उनकी देह की सुधबुध भुला दी थी। वैसा ही कुछ यहां भी था। श्रोताओं में केवल साधारण कोटि के लोग हों, सो बात नहीं थी; प्रत्युत उनमें जहां एक ओर ऐसे लोग थे, जो भावनाओं के लिए अपने प्राणों तक की बलि चढ़ाने को तत्पर रहते थे, वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जो व्यवहार-प्रवीण एवं पहले दर्जे के राजनीतिज्ञ थे। फिर भी उस समय वहां शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जो उस उत्साह के महासागर में डूबने से बचा हो। यह प्रभावोत्पादक दृश्य इस बात की साक्षी था कि शब्द की शक्ति कितनी प्रबल होती है।

मुशायरे का यह कार्यक्रम काश्मीर परिषद् के दूसरे दिन का कार्यक्रम समाप्त हो जाने के बाद रखा गया था और आरम्भ में जिस पंक्ति का उल्लेख किया गया है उसके गायक उर्दू के विख्यात कवि ‘जोश’ थे। उनका नाम यथार्थ ही था। यह किसी सामान्य मुशायरे का दृश्य नहीं था और मुझे तो इस बात की कल्पना तक नहीं थी कि मुझे यह मुशायरा देखने को मिलेगा।

१५ सितम्बर को शेर-काश्मीर शेख अब्दुल्ला ने काश्मीर-परिषद् के लिए आमंत्रण दिया था तथा काश्मीर विश्वविद्यालय के

प्रथम दीक्षान्त समारम्भ के समय उपस्थित रहने की प्रार्थना की थी । मैं इन्कार करने का विचार ही कर रहा था कि इसी बीच पंडित जवाहरलाल नेहरू ने पूछा—“काश्मीर देखा है ?” मैंने कहा—“नहीं ।” इस पर वह बोले—“चलो ।” फलतः मैंने भी चलने का निश्चय किया ।

कल्हण कविकृत “राजतरंगिणी” नामक काव्य मैंने थोड़ा-सा पढ़ा था । काश्मीर की यात्रा के वर्णन भी मेरी दृष्टि में आये थे । काश्मीर के सौन्दर्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सुनी रहीं थीं । शेख अब्दुल्ला और काश्मीर के आन्दोलन के बारे में गत १५ वर्षों से बहुत-कुछ पता था और गत दो वर्षों से तो काश्मीर के सवाल के साथ भारत सरकार के एक मन्त्री के नाते सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हो चुका था । अनेक दृष्टियों से इस योगायोग की अनुकूलता को देखकर आनन्द प्रतीत हुआ और मैं मन-ही-मन काश्मीर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनाएं करने लगा । मैंने अनुभवी यात्रियों से आवश्यक जानकारी प्राप्त की और २४ सितम्बर की सुबह को एक फौजी हवाई जहाज में बैठकर श्रीनगर की ओर प्रस्थान किया । पहले पंजाब, फिर रावी और फिर जम्मू तथा बानिहाल दर्रे के ऊपर से होता हुआ हमारा विमान तीर की तरह चलता गया । पठानकोट के समीप के प्रचंड पुल और वहां से जम्मू तक की नई सड़क को देखकर मुझे भारत के वास्तु-विशारदों के कर्तृत्व के सम्बन्ध में अभिमान की अनुभूति हो रही थी । नाटककार भले ही नाटक का लेखक हो, किन्तु नाटक का उत्तम रीति से अभिनीत होना तो नट के ऊपर ही अवलंबित रहता है । तथापि दर्शकों द्वारा नाटक की प्रशंसा होने पर नाटककार को जितना अभिमान करने का अधिकार है, उतना ही अभिमान मुझे भी प्रतीत हुआ । विमान जब बानिहाल पर्वत पर पहुंचा तब नीचे के दृश्य की रमणीयता अप्रतिम हो गई । पर्वतों के काँट भाग में अनेक घुमावदार

रास्ते दीख रहे थे। उन्हें देखकर उस मंदार पर्वत का अनायास स्मरण हो उठता था, जिसको मंथन दण्ड बनाकर वासुकि नाग की मंथन रज्जु का द्वारा देवों और आसुरों ने अमृत प्राप्ति के लिए क्षीरसागर को मथा था और ऐसा प्रतीत होता था कि कदाचित् उसी मंथन में से यह काश्मीर की नितान्त नयनरम्य सृष्टि निर्मित हुई है। अथवा, काश्मीर की घाटी के संरक्षण के लिए खड़ा किया गया यह दक्षिण दिक्पाल कहीं भाग न खड़ा हो इस भीति से उसे रस्सी में बांध रखा गया हो, ऐसा क्षण-भर को प्रतीत हुआ। क्षण-भर में मन में ऐसी भी एक रम्य कल्पना आई कि हिन्दू संस्कृति के प्रति आदर बुद्धि उत्पन्न होने के कारण इस नागराज ने कुछ अस्तव्यस्त रूप में ही क्यों न हो, यज्ञोपवीत धारण करके हिन्दू संस्कृति के प्रति अपने अभिभाव को जागरित रखा है।

काश्मीर के आकाश में

हमारा विमान लगभग १२ हजार फुट की ऊँचाई पर से जा रहा था। यात्रा के आरम्भ के क्षणों में जो उष्णता अनुभव हो रही थी वह अब नहीं रही थी और पर्याप्त शीत अनुभव होने लगा था। मेरी ही भांति अनेक यात्रियों का जी भी थोड़ा-सा भिचलाने सा लग गया था। इतने में नेहरूजी ने यू० डी० कोलोन का शीशी निकालकर उस सारे जहाज में छिड़का। उसकी कुछ बूँदें उन्होंने कहियों के रुमालों पर भी छिड़कीं, जिससे कुछ ताजीदगी महसूस हुई। अब हम काश्मीर की घाटी में प्रवृष्ट हो चुके थे। नीचे की जमीन सपाट नजर आती थी। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से युक्त बड़े-बड़े उद्यान दृष्टिगत हो रहे थे। हरे-भरे खेत और उनके बीच में से चक्करदार मागों से होकर बहने वाली जलधाराएं दिग्विंद दे रही थीं। सवा नौ बजे के लगभग हमारा हवाई जहाज श्रीनगर से १४ मील की दूरी पर स्थित हवाई जहाज के अड्डे पर उतरा। १९४७ के अक्टूबर महीने के

अन्त में इस स्थान से २ मील के फासले तक पाकिस्तानी लुटेरे आ पहुँचे थे। यदि इस हवाई अड्डे पर हमारी भारतीय फौजें दो घण्टे की भी देरी से उतरी होती तो आज यह लेख लिखने का मौका ही न आया होता।

श्रीनगर में भव्य स्वागत

हवाई अड्डे पर उतरते ही स्वागत के लिए आये हुए युवराज कर्णसिंह, काश्मीर के मुख्य अधिकारी एवं नागरिक दिखाई दिये। नीचे उतरने पर उन सबसे परिचय कराया गया। परिचय के पश्चात् हम सब की प्रभातफेरी श्रीनगर की दिशा में चल पड़ी। श्रीनगर के प्रवेश द्वार तक रास्ते में स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार बने हुए थे। नेहरूजी की जीप के पीछे हमारी गाड़ी थी और उसमें मेरे सिवाय राजकुमारी तथा गोपाल स्वामी थे। स्वागतार्थ जब लोग हम पर फूल फेंकते थे तो फूल के रज के साथ पृथ्वी की रज (धूल) भी हम पर बरस जाती थी। नेपालेश्वर के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि यदि वह कीचड़ उठाकर भी अपने माथे पर लगाले तो वह कस्तूरीमय हो जाता है। कुछ ऐसी ही कल्पना मेरे भी मन में थी। मैं समझता था कि सारा काश्मीर केशरमय होगा अथवा वहां पहुँचने पर कम-से-कम वैसी सुगन्ध का अनुभव तो अवश्य ही होगा। पर यह काव्य-कल्पना यहां की वस्तुस्थिति की तुला पर तोलने पर सर्वथा सारहीन सिद्ध हुई। राजकुमारी ने कहा—“यह क्या धूल है?” मैंने कहा—“मध्यम श्रेणी के लोगों के प्रारम्भ में तो यही बदा होता है। यदि हम श्रेष्ठ कोटि के नेता होते तो अग्रभाग में विराजित रहने से धूल हमारे हिस्से में न आती या यह तब सम्भव होता जब हम एकदम अन्त में होते। यद्यपि इस विनोद के कारण धूल को भुला देना सम्भव नहीं था, तथापि इतनी बात अवश्य हुई कि किसी ने फिर इस विषय पर चर्चा नहीं की। प्रत्येक प्रवेश द्वार के पास ‘हिन्दुस्तान जिंदाबाद’ ‘नेहरू जिंदाबाद’ ‘शेरे काश्मीर जिंदा-

बाद' के नारे लगाये जाते थे। थोड़ी देर में हमारा जुलूस नगर के प्रवेश द्वार पर आ पहुँचा। भेलम नदी का पुल ही श्रीनगर का प्रवेश द्वार है। सारा श्रीनगर इस नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ है। अर्थात् यों कहिये कि भेलम नदी इस नगर के मध्यभाग में प्राणवाहिनी की तरह बहती है। सैकड़ों नौकाएं नदी में तरंगित हो रही थीं। पुल पर से होकर हमने नगर में प्रवेश किया। यहां स्वागत-द्वार बहुत पास पास बने हुए थे। कढ़े हुए कपड़ों और गलीचों ही से सारे द्वार सुसज्जित किये गये थे। दोनों ओर दूकानें सजी हुई थीं। मार्ग लोगों से खचाखच भरा हुआ था। परिषद के स्वयंसेवक, काश्मीरी होमगार्ड्स तथा भारतीय फौज के सिपाही इन्तजाम में लगे हुए थे। इस नगर में लगभग पौन घंटे तक हमारा जुलूस चलता रहा। थोड़ी ही देर में हम 'चश्मेशाही' उद्यान में पहुंचे। यह किंचित् ऊँचाई पर बना हुआ है। यहां के भरने का पानी बहुत प्रसिद्ध है और ऐसा कहा जाता है कि जहांगीर बादशाह के जमाने में यहां से पानी के घड़े प्रति दिन बादशाह और देगमों के लिए लाहौर भेजे जाते थे। आज यहां एक अत्यन्त आधुनिक ढंग का अतिथि-गृह बना हुआ है और इसके सामने श्रीनगर की शोभा में वृद्धि करने वाली ढल भील है। यहां हमें जलपान कराया गया।

दीक्षान्त समारम्भ

कुछ समय तक वहां की सुन्दर पुष्पवाटिकाओं का आनन्द लेने के पश्चात् हम दीक्षान्त-समारोह में सम्मिलित होने के लिए निकले। मैं सम-भक्ता हूँ कि खुले मैदान में होने वाला यह कदाचित् पहला ही दीक्षान्त समारम्भ था। विश्वविद्यालय की स्थापना को अभी एक ही वर्ष हुआ था। वस्तुतः ऐसे काल में, जब कि चारों ओर तोपों की गड़गड़ाहट कान की भिक्षियां फाड़े डालती हों और एक प्रकार का रणसंभ्रम सर्वत्र मचा हुआ

हो, किसी नये विश्वविद्यालय की कल्पना तक हास्यास्पद प्रतीत हुई होती, तथापि अरण्यों, वनों में से पलायन करते समय जैसे अकबर का जन्म हुआ था अथवा शिवनेरी नामक स्थान पर सर्वत्र उथल-पुथल की दशा में स्वराज्य संस्थापक शिव प्रभु का जन्म हुआ था उसी प्रकार श्रीनगर के इस विश्वविद्यालय की भी सृष्टि हुई थी। क्रान्ति के काल ही में क्रान्तिशरक कल्पनाओं का प्रसव होता है। काश्मीर का विश्वविद्यालय वास्तु अथवा आदर्श की दृष्टि से भारत के अन्य विश्वविद्यालयों के सदृश नहीं है। वह वस्तुतः अभिनव काश्मीर या 'नया काश्मीर' रूपी आदर्श का पालना है। उसकी कल्पना केवल तीन ही सप्ताहों में प्रसूत हुई थी। सब प्रकार के आनुसंगिक साधनों को जुटाकर एक वर्ष के भीतर यह विश्वविद्यालय इस स्थिति को पहुँच गया कि वर्षान्त में ३०० विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर स्नातक बनने के लिए प्रस्तुत हो गये एवं उन्हें उपाधि प्रदान करने के लिए इस समारोह का आयोजन हुआ। एक सुन्दर त्रिभुजाकार शामियाना लगा हुआ था। सामने की हरी घास पर जनता बैठी हुई थी। चारों ओर गगनचुम्बी चिनार के वृक्षों की कतारें बाल-सूर्य के आतप से दर्शकों का बचाव कर रही थी। प्रतिष्ठित अतिथियों में पंजाब तथा केन्द्रीय सरकार के कुछ मंत्री भी थे। हमारे पहुँचने तक वहाँ सीनेटर का जुलूस तैयार हो चुका था। नेहरूजी गाड़ी से उतरते हुए बोले—“ओह, अपना गाऊन लाना भूल गया” “पर भाषण भूलना तो सम्भव नहीं,” मैंने कहा। पंडितजी ने कहा, “हां यह तो सही है।” हम अपनी जगहों पर बैठ गये और थोड़ी ही देर में जुलूस भी आ पहुँचा। युवराज और नेहरूजी के आगे शेख अब्दुल्ला तथा उपकुलपति थे। उनके पीछे जोड़ी-जोड़ी में सीनेटर एवं प्रोफेसर लोग थे। इनमें हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध सभी धर्मों के अनुयायी थे। स्नातकों में भी सभी धर्मों के लोग थे। पर स्मरण रहे

कि सब के सिरों का पहरावा एक ही था । सबने किंचित गुलाबी रंग के फेंटे बांध रखे थे । काले चोलों और गुलाबी शिरः परिधानों का सुन्दर समन्वय था । युवराज ने भाषण दिया । काश्मीर समस्त जगत् की संस्कृतियों का समन्वय है । वैदिक संस्कृति की गहनता, बौद्ध संस्कृति का नैतिक महत्व एवं इस्लामी संस्कृति का चैतन्य मिलकर काश्मीर की संस्कृति बनती है । एशिया महाद्वीप से आने वाले सभी बड़े-बड़े रास्ते काश्मीर में आकर मिलते हैं । काश्मीर जिस प्रकार प्राचीन काल से चली आने वाली वस्तु-विनिमय का केन्द्रीय पैंठ रहा है उसी प्रकार वह संस्कृति-विनिमय की भी पैंठ है । नेहरूजी ने कहा —“भारत का तथा काश्मीर का इन गत दो वर्षों में जो इतिहास रहा है उसे देखकर मुझे अभिमान होता है । इस प्रदेश में बुद्धि के विलास और हस्तलाघव का सुन्दर मेल हुआ है । यहां के कला-कौशल ने तथा यहां के साहित्य ने विश्व को आश्चर्य-चकित कर दिया है । यह विश्वविद्यालय दूसरों से भिन्न है । यहां के स्नातक अन्य स्नातकों की भांति नहीं होंगे । नवीन काश्मीर के वे शिल्पकार हैं । नया काश्मीर एक ऐतिहासिक आन्दोलन है और वह भारत तथा समीपवर्ती अन्य देशों के इतिहास को एक प्रेरणा देने वाली वस्तु बनेगा ।” पंडितजी के भाषण में गत स्मृतियों का उल्लेख आया । वर्तमान घटनाओं का ऊहापोह उन्होंने किया । भावी इतिहास के रेखाचित्र उन्होंने अंकित किये । सामने खड़े हुए चिनार के दरख्तों की ऊँचाई के साथ मानों उनका भाषण होड़ कर रहा था । नेहरूजी प्रवृत्ति से कवि, मनन से तत्त्वज्ञ, तथा विवेक से व्यवहारविद् हैं । अतः उनके भाषण का विमान किसी निर्धारित विमान-स्थल पर ही उतरेगा ऐसा अवसर नहीं कहा जा सकता ।

जेब की परोक्षा

दीक्षांत समारंभ के पश्चात् पंडितजी को छोड़ हम सब भेलम नदी के तीर पर बने अतिथि-गृह में 'सरकारी अतिथि' के रूप में पहुँचे। अपरान्ह में हमें नदी मार्ग से निकलने वाले जुलूस में सम्मिलित होने की सूचना दी गई। दांपहर के भोजन के पश्चात् जुलूस के समय तक क्या किया जाय इसका विचार मैं कर ही रहा था कि रत्नामंत्री सरदार बल्देवसिंह, उनके भाई, उनकी पत्नी और बच्चे मेरे पास आये और काश्मीर एम्पोरियम की ओर चलने के लिए कहने लगे। वहाँ जाने का अर्थ अपना सारा बटुआ खाली करना था। पर यह भी सत्य था कि दिल्ली लौटने पर सारी बाल-गोपाल-मंडली हमारे लिए क्या लाये, हमारे लिए क्या लाये यह कहकर पीछे पड़ जाती। अतः अभी मैं सोच ही में था कि मोटर में बैठ कर काश्मीर एम्पोरियम पहुँच गया। सबसे पहले मैंने केशर के बारे में पूछताछ की। विचारशील वृत्ति के अनुरूप मैंने मध्यम कोटि की केशर देने के लिए कहा। विक्रेता ने कहा— 'काश्मीर में केशर एक ही कोटि का होता है।' उसने केशर दिखाया। जीवन में पहली बार मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि असली केशर कैसी हांती है और उसकी सुगन्ध कितनी मनमोहक होती है! ग्राहक लोग मोह में आकर अधिक केशर खरीद सकें इस विचार से काश्मीर सरकार ने रुपये के पीछे एक आना कमीशन घोषित कर रखा था। हम वहाँ भिन्न-भिन्न दालानों में से होकर फिरे। लकड़ी पर खुदाई का काम, कागज का काम, शाल, गलीचे, चमड़े के काम, सर्वत्र कला-कौशल का विकास दिखाई देता था। जेब की सम्पत्ति की समाप्ति तक खरीदारी हुई। व्यवस्थापक ने कहा— "और खरीदना हो तो खरीद लीजिए। पैसों की चिंता न करें, दिल्ली जाकर भेज दीजिएगा।" प्रसंग बड़ा नाजुक था। मेरी ही जैसी अवस्था सरदार बल्देवसिंह की भी

हो गई थी। अन्त में हम दोनों झपट कर एम्पोरियम से बाहर हो गये और हमारी प्रतिष्ठा तथा जेब की शेष राशि बची रही।

नौका-विहार

ठीक चार बजे हम वहाँ पहुँचे जहाँ स नौका-जुलूस निकलने वाला था। तीन नौकाएं सजाई गई थीं। पहली में पंडितजी, युवराज और शेख अब्दुल्ला बैठे। नौका खेने वाले सफेद पायजामा, सफेद कोट, मिर पर गुलाबी रंग का फेंटा त। तिरंगे चप्पू लिए तैयार खड़े थे। दूसरी नौका में मैं, राजकुमारी तथा आर्यंगर बैठे। तीसरी नौका में सेनापति, रक्षामंत्री तथा अन्य फौजी अधिकारी बैठे। हमारे पार्श्व में पुलिस वालों की नौकाएं थीं और चारों तरफ जिधर देखो उधर छोटी-बड़ी नौकाएं ही नौकाएं दृष्टिगत होती थी। साढ़े चार बजे का चला हुआ जुलूस सवा छः बजे अपने संकल्पित स्थान पर पहुँचा। इन तीन-चार मील के प्रवास में गगन नारों से गूँज उठा था। पानी पर भी अगणित स्वागत द्वार थे। प्रत्येक विद्यालय और महाविद्यालय के अलग-अलग स्वागत-द्वार खड़े किये गये थे। नदी के दोनों किनारों पर खड़े हुए श्वेत भवन नर-मुन्डों से निर्मित बुर्ज-से प्रतीत होते थे। काश्मीर सौन्दर्य का निलय है, यह केवल अचेतन सृष्टि ही नहीं, प्रत्युत चेतन सृष्टि को देखकर भी विदित होता था।

खिड़कियों में से, छज्जो पर से सैंकड़ों स्त्रियाँ निर्निमेष दृष्टि से जुलूस को निहार रही थीं। उनमें से कुछ तो वहाँ अस्तव्यस्त अवस्था में ही थीं। कुछ अपने बच्चों को सुलाते-सुलाते उन्हें उसी अवस्था में साथ ले आई थीं— तो कुछ प्याला भूलकर केवल तश्तरी ही लेकर भाग आई मालूम पड़ती थीं। उन्हें देखकर रघुवंश में वर्णित अज महाराज के जुलूस की याद हो आई। अज महाराज को देखने आने की गड़बड़ी में 'न बबंध नीवीं ससम्भ्रात् सा' वाली बात यहाँ भी अवश्य हुई होगी

ऐसी एक कल्पना मन का स्पर्श किये बिना न रही। स्थान-स्थान पर स्त्रियों के झुन्ड विद्यमान थे और वे स्थान मुझे तो विकसित-कुसुम कमल-वनों की भांति ही प्रतीत हुए। लगभग सत्तर वर्ष की उम्र के गोपाल स्वामी ने मुझसे पूछा—“दोनों तरफ मौजूद यह दशक-समुदाय आपने देखा?” मैंने कहा—“जैसे आपकी नजरों से नहीं बच सका वैसे मेरी नजरों से भी नहीं बच सकता।” एक जगह चादर में ‘स्वागतम्’ के अक्षरों में छेद बनाए हुए थे और उनमें केवल मिर बाहर निकाले बच्चे बैठे थे। उसे देखकर लगता था मानों इन कपाल-कमलों से ही ‘स्वागतम्’ शब्द लिख गया हो। डेढ़ घंटे तक नारों और जयघोषों के साथ हमारा प्रवास चालू रहा। तिरंगे चप्पू एक साथ चलाये जा रहे थे जिससे ऐसा भास होता था मानों साक्षात् अप्सराएं ही भेलम नदी में जल-क्रीड़ा कर रही हों। “जमीन जोतने वालों की”, “कारखाना मजदूरों का”, “राज्य जनता का” इत्यादि अनेक वाक्य स्वागत-द्वारों पर लिखे हुए थे। काश्मीर के ज्ञात इतिहास में यह तीसरा जुलूस है; पर इतने बड़े पैमाने का पहला ही है, ऐसा लोग कहते थे। भेलम ने अपने जन्मकाल से अब तक अपने वक्षःस्थल को विलोडित करने वाला इतना बड़ा जुलूस नहीं देखा था, इसीलिए उसका हृदय बल्लियों उछल रहा था। इस दृश्य को जी-भर कर देखने के लोभ में सूर्य भी शीघ्र अस्त नहीं हो रहा था। उसका यह ताप हमें बड़ा दुखदायी लग रहा था। पूरा एक घंटा बीत जाने पर भी जुलूस समाप्त होता नहीं दिखाई दिया। आगे-पीछे, इधर-उधर चारों तरफ नौकाएं ही नौकाएं नजर आती थीं और जिस प्रकार पतंग दीये के ऊपर छूटने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार प्रत्येक नौका वाला नेहजी की नौका की ओर झुटता पड़ रहा था। “काका, आपको अभी एक घंटा और इसमें बैठना पड़ेगा।” फ़िरोज़ (नेहरू के जामाता) ने कहा। मैंने

कहा—“यह निर्मल-नीरा भेलम, यह चारों ओर की जनता और यह रसमय वातावरण ऐसा ही बना रहने वाला हो तो एक घंटा क्यों, युग-भर भी मैं बैठे रहने को तैयार हूँ।” तथापि स्वप्नों की समाप्ति की भांति हमारे इस जुलूस की समाप्ति का काल भी आ गया। सवा छः बजे के करीब हम अपने संकल्पित स्थान पर पहुँच गये। वहाँ पास के एक छोटे से उद्यान में हमारी चाय का प्रबन्ध था। गरम-गरम मसालेदार चाय को उदरस्थ कर हम समीप ही में विद्यमान परिपक्व-मंडप में जा पहुँचे।

विराट् जनसमूह एकत्र था। सामने चिनार के वृक्षों पर बिजली के दीपों की मालाएं मनोहर आवृत्तियों में सजाई गई थी। मंच पर भी बिजली की जगमगाहट थी। अपनी संगठन चातुरी के लिए समस्त काश्मीर से घाहवाही पाने वाले गुलाम मुहम्मद बख्शी का भाषण हुआ, जिसे उन्होंने गिने-गिनाये तीन मिनटों में ही समाप्त किया। वह समय और प्रसंग को पहचान कर तदनुरूप व्यवहार करने में दक्ष हैं। अतिथियों की वाहन-व्यवस्था से लेकर भोजन-व्यवस्था तक उनका सारा प्रबन्ध, मुझ जैसे अनेक राजा-महाराजाओं का आतिथ्य स्वीकार किये हुए व्यक्ति को अत्युत्कृष्ट एवं अविस्मरणीय लगा।

काश्मीर का कंहरा

शेख अब्दुल्ला के भाषण देने के लिये खड़े होते ही “शेख काश्मीर जिंदाबाद” का इतना प्रचंड घोष हुआ कि आकाशवाणी पर प्रसारित उसकी ध्वनि से कराची शहर भी दहल उठा होगा। शेख अब्दुल्ला काश्मीर के पहाड़ों की भांति ऊँचे, वहाँ के पाम वृक्षों की भांति इकहरे बदन के तथा समस्त काश्मीर की सौंदर्य-कीर्ति के अनुरूप रूप के हैं। उनकी लगन और उनके तत्वज्ञान में से अधिक प्रभावशाली कौन है, यह कहना सुगम नहीं। द्विराष्ट्रवाद के प्रति उनका द्वेष उनके काश्मीर के प्रेम

के जितना ही है। उनकी भाषा स्पष्ट एवं उनके विचार उदात्त हैं। कूट-नीतिज्ञता का आरोप मैं तो उन पर नहीं करूँगा। लोग इतने वक्र स्वभाव से क्यों व्यवहार करते हैं, यह उनके लिए एक पहेली है—ठीक वैसे ही जैसे वह स्वयं इतने सरल स्वभाव से क्यों व्यवहार करते हैं यह उनके मित्रों के लिए एक पहेली है। उनके शत्रुओं के लिये ये दोनों ही बातें एक अनबूझे बुझौल की भाँति हैं। उनका विगत इतिहास, उनके द्वारा सहन किये गये कष्ट तथा अनेक बार कसौटी की कस पर खरा उतरा हुआ उनका राजकीय शील जो लोग अच्छी तरह जानते हैं वे ही उनकी व्यक्ति-मत्ता को समझ सकते हैं।

हमारी मोटर जब माल रोड पर से गुजर रही थी तो एक पुलिस चौकी के पास गोपाल स्वामी ने मुझे बताया—यही वह स्थान है, जहाँ शेख अब्दुल्ला को पकड़ने के पश्चात् मेरी मोटर पर बड़े-बड़े पत्थर बरसाये गये थे।” मैंने कहा—“आर यही वह स्थान है, जहाँ आज प्रातः आपके ऊपर फूल बरसाये गये, ऐतिहासिक न्याय से और कुरान में काफ़िरों के लिए लिखे गये न्याय से तो आप पर पत्थरों की ही वर्षा होनी चाहिए।” गोपाल स्वामी ने कहा—“गिरफ्तारी के बाद जो उपद्रव हुए उनके लिए अब्दुल्ला उत्तरदायी नहीं है। वह सच्ची अहिंसा के अनुयायी हैं।”

अभिप्राय यह कि शेख अब्दुल्ला क्रांतिकारी व्यक्ति हैं, किन्तु उनके अन्दर क्रांतिकारियों की सी एकांगी वृत्ति नहीं है। वह मुसलमान है, किन्तु उनमें कटमुल्लापन नहीं है। वह आज काश्मीर के नेता हैं पर जनता के साथ समरस होने का भाव उनसे दूर नहीं हुआ है। अपने भाषण में उन्होंने कहा “हम केवल रक्षा, यातायात और परराष्ट्रीय सम्बन्ध के विषयों के लिए भारत के साथ संलग्न हुए हैं। अन्यथा काश्मीर, सर्वधर्मानुयायियों का काश्मीर, काश्मीरी जनता का काश्मीर, सर्वथा स्वयं

शासित रहेगा । हमारा निर्णय जल्दबाजी में किंवा लोभवश किया गया निर्णय नहीं है । पाकिस्तानी संस्कृति का पूरा अनुभव हम ले चुके हैं । हम भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के पहरदार हैं । निष्ठा हमारा व्रत है । जनता की सेवा हमारा धर्म है । गांधीजी की सीख हमारी मार्गदर्शक है । काश्मीर की पवित्र भूमि पर जबतक एक भी काश्मीरी जीवित है, तबतक हम किसी को आने नहीं देगे । १९४७ के अक्टूबर में आक्रमणकारियों के धावा बोलते ही हमारी सरकार हमें छोड़कर भाग गई । जनता ने तथा हमारे स्वयंसेवकों ने क्षण-भर में संगठन करके राज्य का कारोबार अपने हाथ में ले लिया । भारत सरकार ने हमारी प्रार्थना सुनी, भारतीय सेना ने हमारा संरक्षण करके हमें उपकृत किया । जिन हिंदू-मुसलमान शहीदों ने काश्मीर के लिये देह त्याग किया उनकी स्मृति इस भेलम के प्रवाह की तरह अखंड रहेगी । आज नया काश्मीर जन्म ग्रहण कर रहा है । उसके उत्कर्ष के लिए हम अपना तन, मन और धन समर्पित कर रहे हैं ।”

अब्दुल्ला के पश्चात् पंडित जी ने भाषण किया । आध घंटे तक उन्होंने काश्मीर से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख किया । इसके पश्चात् उनकी वाग्-नौका ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महासमुद्र में प्रवेश किया । पाकिस्तान को सम्बोधित करते हुए उन्होंने धमकी, प्रार्थना, उपदेश, व्यपदेश आदि के क्रम से अपने वक्तव्य का प्रदर्शन किया । उनके भाषण में अनेक बार “हिन्दुस्तान जिंदाबाद, “पंडित नेहरू जिंदा-बाद” के नारे बुलन्द किए जाते रहे ।

भाषण के बाद अगले दिन का कार्य-क्रम बताया गया और सूचना दी गई कि रात को दस बजे के बाद मुशायरा रखा गया है । परिषद के मंडप से लौटते समय नेहरू जी ने मुशायरे में अवश्य सम्मिलित होने का आग्रह किया । रात को कर्णमहल में हमारा ‘राजकीय’ भोजन प्रबन्ध रहा ।

राजकीय भोजन प्रबन्ध, हमने इस लिए कहा कि इसमें सम्मिलित होने के आमंत्रण-पत्र छुपे हुए थे और भोजन का स्थान राजमहल था। वैसे उस भोजन में और अन्यत्र कहीं भी प्राप्त होने वाले भोजन में कोई अन्तर नहीं था। उसी जगह नेहरू जी का काश्मीर यात्रा का चित्र-पट भी देखने को मिला। उस चित्र को देखने वालों में कुछ लामा लोग भी अपने विचित्र वेशभूषा में नज़र आये।

गुलमर्ग-यात्रा

काश्मीर में आने के बाद काश्मीर के दर्शनीय स्थानों को देखे बिना जाना असंभव था। यों तो समस्त काश्मीर ही अपने सौन्दर्य के लिए लब्ध-प्रतिष्ठित है। उसमें भी श्रीनगर और उसमें गुलमर्ग, शालीमार, निशात तथा अञ्छा-बल। जिस प्रकार शाकुंतल के चौथे अंक के श्लोक चतुष्टय को पढ़ लेने से शाकुंतल का सार सर्वस्व ग्रहण हो जाता है वैसे ही मैंने उक्त स्थानों को देखकर काश्मीर का सारांश ग्रहण करने का निश्चय किया। २५ तारीख की सुबह के ६॥ बजे हम गुलमर्ग की ओर जाने के लिए निकले। श्रीनगर के बाहर वाले मैदान में से होकर मोटर का रास्ता था। इस मैदान से एक मील की दूरी पर सरदार बलदेवसिंह ने हमें वह स्थान दिखाया जहां तक शत्रु आ पहुँचा था। वह रास्ता बारामूला की ओर जाता है तथा उसके दोनों तरफ ऊँचे-ऊँचे दरस्त हैं। कुछ फासला तय करने पर हम दक्षिण की ओर मुड़े। रास्ते में जहाँ कोई गाँव मिलता वहीं हम ठहर जाते और भिन्न-भिन्न लोगों से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते। लगभग डेढ़ घंटे में हम तगमर्ग पहुँचे। वहाँ से गुलमर्ग की चढ़ाई शुरू होती है। मेरा मन उस चार मील के रास्ते को घोड़े पर सवार होकर तय करने का था। परन्तु हमारे लिए जीप गाड़ियाँ तैयार थी। जिस रास्ते पर चाहें उस पर

जिस प्रदेश में से चाहें उसमें से और जिस चढ़ाई या उतार पर चाहें उस पर से जाने वाला यह जीप-वाहन भी एक विलक्षण वस्तु है। अहमदनगर की ओर एक कहावत है कि “प्याज जैसा व्यंजन नहीं, मानभाव जैसी पत्नी नहीं, और गदहे जैसा वाहन नहीं।” प्याज कच्ची पकड़ी दोनों हालतों में, हर अंग से उपयोग में आती है। मानभाव की पत्नी के लिए चोली, चूड़ी तथा तेल का खच नहीं और गदहे के लिए उससे भरपूर काम लेने के बाद भी चारे की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, किसी घूरे पर उसे छोड़ दिया जाय तो उतना ही उसके लिए पर्याप्त हो जाता है। इस कहावत में मैं गदहे के स्थान में जीप शब्द रख देना ठीक समझता हूँ क्योंकि इस वाहन के चलाने के लिए किसी रास्ते की ही जरूरत नहीं रहती। अधर में वह नहीं चल सकता, इतनी ही कमी उसमें रह गई है। बिलकुल दम फुला देने वाली काठियावाड़ी पगड़ी की भांति घुमावदार रास्तों वाली वह चार मील की चढ़ाई हमारी जीप ने लगभग १५ मिनट में पूरी कर दी।

गुलमर्ग दस हजार फुट की ऊंचाई पर है। एक द्रोण की तरह अध-मील व्यास का एक गोलाकृति प्रदेश है तथा चारों ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है। घने जंगल में से आते समय तो सूर्य का दर्शन भी दुर्लभ हो जाता था। इस द्रोण भाग में अल्हाद मारने वाली ठण्डी हवा बह रही थी। थोड़ी-थोड़ी दूर पर लकड़ी की कुछ टूटी-फूटी-सी भोंपड़ियां नज़र आती थीं। कभी-कदास कोई आदमी आता-जाता दीख जाता था। हमारे साथ का कैप्टन हमें परली ओर मिलिटरी की भोंपड़ी के पास ले गया। वहां से एक मील के फासले पर किलमर्ग का दर्रा था और उसके ऊपर चनाब नदी की घाटी थी। किलमर्ग की ओर जाने की इच्छा थी पर जीप का वहाँ तक जाना सम्भव नहीं था। टट्टू पर जाने से समय पर

लौटना कठिन हो जाता; अतः विचार स्थगित करना पड़ा। वहाँ पर रहने वाले सैनिकों ने हमारी आव-भगत की। बलदेवसिंह ने बड़ी आत्मीयता से उनसे कुशल-मंगल पूछा। आक्रमणकारियों ने वहाँ के जिस 'निह-होटल' को तोड़-फोड़ डाला था वह हमें दिखाया गया। जिस नृत्य-गृह में सौंदर्य-लतिकाएं नाचा करती थीं वहाँ उसके दग्ध अंगों को देखकर शैतान के नंगे नाच का स्पष्ट भान हो रहा था। रेसकोर्स को नष्ट कर दिया गया था। जो कुछ वे ले जा सकते थे सब उठा ले गए थे, जो बड़े-बड़े गलीचे वे पूरे-के-पूरे नहीं ले जा सकते थे उन्हें टुकड़े-टुकड़े करके ले गये। दवाखाने की बातलो में तेजाब भरा हुआ था जिसे उन्होंने सिर और मुंह पर तेल समझकर मल लिया था। फलतः उनके चेहरे विरूप हो गये थे, ऐसा हमें बताया गया था। बारामूला और गुलमर्ग की लूट का सामान वे लोग लगभग साढ़े चार सौ ट्रकों में भर कर ले गये थे। यदि वे इस लूट में अपना समय खर्च न कर देते तो आज काश्मीर का सवाल हिन्दुस्तान के लिए तो समाप्त हो चुका होता। इन लोगों ने अत्याचार करते समय उम्र नहीं देखी, जाति नहीं देखी, धर्म नहीं देखा। उन्हें पशु कहना बंधारे पशुओं का भी अपमान करना है।

शाही शेरवानी

आतताइयों ने शेख अब्दुल्ला के दाहिने हाथ "शेरवानी" को पकड़ कर बारामूला गांव के चौराहे पर खड़ा करके अनेक प्रकार की यातनाओं से पीड़ित करके मार डाला। उनसे बार-बार कहा गया था—“अगर तू मुंह से अब्दुल्ला मुर्दावाद” कह दे तो हम छोड़ देगे।” पर आखिर दम तक उन्होंने वह नहीं माना। आज शेरवानी की स्मृति काश्मीर के लिए एक प्रेरणा मन्त्र बन गई है। आतताइयों की नृशंसापूर्ण कथाएं सुनकर मन को शांत रख सकना असम्भव हो जाता है। वहाँ के सैनिकों ने हमें भिन्न-

भिन्न क्षेत्रों की घटनाओं से भी परिचित कराया । वहां के प्रमुख अधिकारी एक सिख थे जो पूना के न्यू इंग्लिश स्कूल के विद्यार्थी भी रह चुके थे । जीप का ड्राइवर मद्रासी था । जमादार मेजर कोल्हापुर के शिवाजी राव भोसिले नाम के सज्जन थे । एक और अधिकारी राजपूत थे । वे लोग विविध प्रांतों से आये हुए थे, फिर भी देश-प्रेम से प्रेरित होकर वे उसकी रक्षार्थ संगठित होकर काम करते थे । उनका उत्साह दुर्दमनीय था । वे उस 'क्षेत्र' की प्रतीक्षा में थे, जब वे दुश्मन को पूरी तरह नेस्तो-नाबूद करने में सफल हो सकेंगे । कड़ाके के जाड़े में और बर्फाली जगहों पर उन्होंने जो पौरुष प्रदर्शित किया है उसका वर्णन उनके प्रति लिखे गये ऐतिहासिक स्तुति-गीतों द्वारा ही किया जाना चाहिए । हमने उनके साथ चाय पी और सबसे हाथ मिलाकर हम वहां से विदा हुए, यद्यपि उस रम्य प्रदेश को छोड़ने की इच्छा नहीं हो रही थी । इतनी शांति और इतने सौंदर्य के सानिध्य के कारण मन में एक प्रकार का दिव्य वातावरण उत्पन्न हो रहा था । सचमुच तपश्चरण के लिए वह स्थान अत्यन्त अनुकूल था । पर तप करने देता कौन है ? अनेक मोह और अनेक प्रलोभनों से पूर्ण इस आधुनिक सृष्टि में प्रत्याद बनने जायें तो कदाचित् विश्वामित्र ही बन जाना पड़े । तात्पर्य यह कि कुछ विलक्षण से विचार उस स्थान को देखकर मन में आते थे । उनका स्मरण करने से एक प्रकार की ताजगी अनुभव होती है पर उन विचारों को अक्षर रूप प्रदान करना मेरी कला के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है । उस काल की मनःस्थिति को साहित्य की चित्र गुफाओं में लाना मेरे लिए क्या, साक्षात् शारदा के लिए भी, असम्भव है । आत्मा जिम प्रकार शब्दातीत है, तद्वत् उस समय का आनन्द भी शब्दातीत है ।

निशात और शालीमार की छवि

कुछ ही क्षणों में हम तंगमर्ग के समीप आये और जीप में से उतरकर

मोटर में बैठ श्रीनगर लौट आये। दोपहर को हमने जगद्विख्यात निशात और शालीमार देखा। जहांगीर बादशाह द्वारा बनाये गये ये उद्यान चार शताब्दियों के बाद आज भी उतने ही सौंदर्ययुक्त और आह्लाददायक हैं। रस की तो यहां पराकाष्ठा है। विलासी वृत्ति का सम्पूर्ण ग्रंथ यहां देखने को मिल जाता है। भूमिगत स्वर्ग कहकर उनका जो वर्णन किया गया है वह अधूरा पड़ता है। वे पुष्प-वाटिकाएं, वे हरियालियां, फव्वारे में से उद्भूत होते हुए वे नीर तुषार, निशात उद्यान के सामने फैला हुआ विस्तीर्ण ढल सरोवर, उसके पृष्ठभाग में वह दंडायमान उत्तुंग पर्वत, यह सब कुछ देखने पर यदि किसी को क्षण-भर के लिए काल का विस्मरण होजाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? विलास-प्रवीण मुगलों की कलाकृतियों एवं शिल्प चमत्कृतियों के समक्ष आधुनिक काल की सारी कलाकृतियां गद्य जैसी निष्प्रभ प्रतीत होती हैं। उस स्थान पर खड़े होकर सामने के हिमाच्छादित शिखरों वाले पर्वतों को देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानो किसी चन्दनपंक चर्चित भाल वाले ऋषि को देख रहे हो। ढल सरोवर में नानाविध आकृतियों वाली नौकायें इधर-उधर फिर रही थीं। क्या था वह दृश्य ! इतिहास ने यदि उलटी गति ले ली होती तो काश्मीर का यह सारा पार्थिव सौंदर्य समाप्त होगया होता !

सांभ का समय हुआ जा रहा था। अतः वहां से लगभग ३० मील की दूरी पर स्थित 'अच्छाबल' उद्यान में जाना सम्भव नहीं था। एता-वता हम अपने आवासस्थान पर लौट आये। रास्ते भर में हमने देखा कि इधर-उधर वृक्षों पर घोषणा वाक्य तथा चित्र टंगे हुए थे। यहां की सरकार की इस प्रचार-प्रणाली को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह मनुष्य स्वभाव की नाड़ियों को अच्छी तरह परखना जानती है। पाकिस्तान के निदर्शक चित्र कुछ ऐसे बने हुए थे कि उन्हें देखकर पुरुष गुस्से के

मारे तमतमा उठे, स्त्रियां घृणा के मारे नाक-भौं सिकोड़ लें और छोटे बच्चे डर जायें। शोरे काश्मीर के चित्र तो हजारों की संख्या में लगे हुए थे। 'काश्मीर एक है' 'हिंदू-मुसलमान एक हैं' 'काश्मीर उन्हीं का है', इत्यादि वाक्य लिखकर उनके अनुरूप ही भित्ति-पत्रों की योजना की गई थी।

नाड़ी की पहिचान

भारतीय सेना द्वारा आक्रमणकारियों के मार भगाये जाने के बाद काश्मीर के नेताओं ने जिस संगठन से और जिस द्रुतगति ने जनता के मन पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, उसका इतिहास सचमुच हम सबके लिए एक प्रकाशस्तम्भ की तरह है। एक सर्वजन सुलभ लिपि का निर्माण करके उसका प्रचार आरम्भ किया है। काश्मीर राज्य के सार्वजनिक यातायात का राष्ट्रीयकरण करके किराया तथा गमना गमन का समय नियमित कर दिया गया है। जो धन्धे अशांत वातावरण के कारण अस्तव्यस्त हो गये थे उनमें स्थिरता लाकर बड़े पैमाने के विक्रय और वितरण के काम को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है। यह प्रदेश इतना सुन्दर और इतना समृद्ध है, तो भी यहां की-सी गरीबी अन्यत्र दूंदे नहीं मिलेगी। यह आत्म-विरोध वहां के नेताओं के चित्त को बेचन किये रखता था।

काश्मीर के मुसलमान

काश्मीर की घाटी में लगभग ६६ प्रतिशत जनता मुसलमान है और धार्मिक कठमुल्लापन भी उसमें खूब है, इतना कि हिन्दुओं के हाथ का भोजन भी वे लोग स्वीकार नहीं करते। भावना के वशवर्ती होकर वह जनता पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर सकती है, इस बात को वहां के दीर्घदर्शी नेता अच्छी तरह समझते हैं। इस धार्मिक भावना पर अंकुश रखने के लिए लोगों के चित्त पर यह प्रभाव डालना आवश्यक हो जाता है कि वे ऐहिक सुविधाओं और स्वाथों की ओर अधिक ध्यान

दें तथा इस बात को भली प्रकार जान जायं कि केवल धार्मिक एकता में ही जीवन का समस्त हित निहित नहीं है। काश्मीर के बहुसंख्यक मुसलमान निवासियों के मन में इस्लाम के प्रति पूर्ण अनुराग की भावना है; तथापि पाकिस्तानी इस्लामी संस्कृति क्या वस्तु है उसका भी अनुभव उन्हें भली प्रकार हो चुका है। पाकिस्तान से आये हुए लुटेरे उनकी स्त्रियों को अपहरण करके ले गये थे। पुरुषों और बच्चों को खुले आम कत्ल करके उन्होंने अपना इस्लामी बंधुत्व अच्छी तरह प्रकट कर दिया था। खून, कत्ल और लूटमार के द्वारा उन्होंने सारे जग के समक्ष यह प्रकट कर दिया था कि काश्मीर के प्रति उनके मन में कितना अनुराग है। इन सब कारणों से भारत के प्रति प्रेम की अपेक्षा पाकिस्तान के प्रति तिरस्कार की भावना ही आज की काश्मीरी जनता के मन में अधिक काम कर रही है।

आर्थिक पुनर्निर्माण

इन अभावात्मक भावनाओं के आधार पर ही संतोष मानकर बैठने से काम नहीं चल सकेगा। इसलिए काश्मीरी नेताओं ने आर्थिक कार्यक्रम द्वारा इस दृष्टिकोण को अधिक स्थायी स्वरूप देने का यत्न आरम्भ किया है। लगभग ६० फीसदी से ज्यादा जनता खेती तथा तत्सम्बद्ध व्यवसायों पर जीवन निर्वाह करती है। जमींदारी-प्रथा के कारण बेचारे खेतिहरों को जो धूप, हवा, सर्दी और बर्फ में रात-दिन कष्ट उठाकर काम करते हैं, खेती की उपज की सिर्फ डंठलें ही मिल पाती हैं। परमेश्वरी न्याय से नहीं प्रयुत मानव-निर्मित कानूनों और प्रथाओं से यह सारी धांधली चल रही है। आज इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन लाया गया है। जमींदारों को अहिंसात्मक लुटेरा करार देकर तदनुरूप शस्त्रों से उन्हें भी काश्मीर के आर्थिक क्षेत्र से मार कर भगा दिया गया है। खेती की कुल (बट्ट) पैदावार का तीन बटा चार भाग हल जोतने वाले का रखा गया है और बाकी का एक

चौथाई भाग प्रतिक्षण क्षयाभिमुख जमींदारों की तथा प्रतिक्षण लोक-प्रियता के आकाश में उदयाभिमुख सरकार की सुविधा के लिए रखा गया है। खेतिहरों में अपनी जमीन की सेवा आस्था-पूर्वक करने की लगन बढ़ गई है, क्योंकि वे जान गये हैं कि जो भी पैदावार होगी वह उनकी अपनी ही होगी। इस जानकारी से उनकी मनोवाटिका भी दिन-ब-दिन पुष्पित होती चली जा रही है। इस वर्ष की फसल पिछले वर्षों से खूब बढ़कर होगी, ऐसा लोगों का अनुमान है। काश्मीर की इस स्थिति में तथा पाकिस्तानी जमींदारी प्रथा की स्थिति में क्या विरोध है यह चतुर खेतिहर के ध्यान में आये बिना नहीं रहता। इसके सिवाय आकाशवाणी, पत्रकों, भित्तिपत्रकों, व्याख्यानों और उत्सवों के द्वारा भी नवीन काश्मीर के नवीन व पुरातन जीवन का यथार्थ चित्र काश्मीरी जनता के समक्ष प्रभावकारी रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पुनश्च, काश्मीरी संस्कृति की सर्व धर्म सामन्वयवादिता, उसकी अलौकिकता, उसके आकर्षण आदि की भी छाप काश्मीरी जनता के हृदयों पर बिठाने का प्रयत्न किया जाता है। यहां की सरकार की प्रचार प्रणाली सर्वथा अभिनव है। उसके ऊपर थोथी-सी छाया साम्यवादी प्रणाली की पड़ी हुई है, ऐसा कहें तो वह वस्तुस्थितिविसंगत बात न होगी।

बच्चों के छोटे-मोटे खेलों के द्वारा भी वर्ग-विग्रह को बिंबित किया जाता है। रस्साकशी के खेल में एक ओर राजा लोग, नवाब, जमींदार, पूंजीपति, व्यापारी, दलाल आदि को एकत्र करके उनका नेतृत्व पंडित और मौलाना लोगों को दिया जाता है और दूसरी ओर टांगे वालों, मोटर वालों, खेतिहरों एवं मजदूरों की पार्टें बनाकर उनका नेतृत्व वर्गीय कल्पना से विरहित विद्यार्थियों को दिया जाता है। इस प्रकार का एक खेल हमें दिखाया गया था। शिश्ता में, क्रीडा-क्षेत्र में, उद्योग में, व्यापार में, खेती

में, चरागाहों में, सर्वत्र इसी प्रकार का वातावरण उत्पन्न किया जाता है। यह है 'नया काश्मीर' का रूप ! सबत्र पुनर्निर्माण एवं पुनरुत्थान ही की आशा उदित है तथा उस दिशा में पर्याप्त द्रुतगति से प्रयाण किया जा रहा है।

नया दृष्टि-बिन्दु

यहां की स्त्रियां शनैः शनैः पर्दा छोड़ती जा रही हैं। 'बेबी शो' के अवसर पर हजारों मुसलमान स्त्रियां पर्दे की प्रथा का परित्याग करके उपस्थित थीं। सौंदर्य के साथ यदि स्वच्छता एवं शुचिता का भी ध्यान रखा जाय तो अच्छा हो। छुटे छुमाही कभी एकाध दफा नहा लेने की प्रथा अभी काश्मीरियों में से हटी नहीं है। फिर भी आज काश्मीर में पुरातन जीवन के किले की दीवारें धड़ाधड़ गिरती चली जा रही हैं। अनेक युगों से अंधकार वाले कोनों में नया प्रकाश फैलता जा रहा है। मदालसा शनैः शनैः क्रियाशील होती जा रही है। शनैः शनैः वहां के स्त्री-पुरुष अपने कंधों पर पड़े हुए अभिनव काश्मीर के निर्माण के उत्तर-दायित्व को पहचान रहे हैं। परलोक में धर्माचरण सब प्रकार के फल को प्राप्त करयेगा इस उधार कल्पना की अपेक्षा इस लोक में प्रस्थापित राज्यसंस्था हमारे जीवनो को अधिक सुखी बना सकेगी, यह नकद लेन-देन की कल्पना स्वीकार करने की व्यवहार-दक्षता लोगों में आती जा रही है। कुछ दिन पहले दिल्ली में एक काश्मीरी व्यापारी माल बेचने के लिए आया था। उससे सारी परिस्थिति के बारे में सवाल करने पर उसने तत्काल उत्तर दिया कि 'रोजी कमाना है तो हिन्दुस्तान से मिलकर रहो और रोज़ा रखना है तो पाकिस्तान का साथ दो।' इस वाक्य का आशय स्पष्ट ही है। काश्मीर की यच्चयावत् प्रजा में सामान्यतया आज यही विचारधारा काम कर रही है।

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

नये काश्मीर की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि सर्व-धर्म-समन्वय की है तथा आधिभौतिक कार्यक्षेत्र साम्यवादी विचारों से ओतप्रोत हो गया है। उनका मार्ग निश्चय का है। आशा उनके साथ है। पीछे मुड़कर देखने की आदत उनमें न होने के कारण आगे के मार्ग को वे स्पष्ट देख रहे हैं। शेख साहब तथा उनके सहकारी संकटों में से गुजरने के कारण आज एक जबरदस्त संगठन के काम में लगे हुए हैं। शासन-सत्ता को हथियाने की भावना से प्रेरित राजनीति वहां नहीं है; अतः स्वार्थ प्रेरित नेतागिरी के पनपने के लिए वहां बहुत कम मौका है। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश के भाग्य के साथ खिलवाड़ करने वाले किंवा अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए देश की विडम्बना एवं अंगविच्छेद करवाने वाले महाभागी अभी वहां नजर नहीं आते। यहां के मुसलमान कहते हैं कि हम पहले काश्मीरी हैं और आखीर में भी काश्मीरी ही हैं।

इस अभिनव काश्मीर के आन्दोलन का परिणाम भारत पर तथा पाकिस्तान पर क्या होता है यह अभी देखना है। पर इस नये धर्म में कार्य की प्रबल आकांक्षा एवं स्वार्थहीनता का अंश तो स्पष्ट है। सार्वजनिक मतदान में काश्मीर किसे स्वीकार करेगा इसके बारे में आज तो किसी प्रकार का संदेह नहीं। जिस धर्म निरपेक्ष वातावरण में काश्मीर की राजनीति प्रगति कर रही है वह एक उन्नत वातावरण है। उसकी उत्कटता अनुकरणीय है। भारतीय मुसलमान इसी भावना से भारत में भी बरताव रखेंगे तो अभिनव भारत भी जगत् में एक आदर्श वस्तु सिद्ध होगा।

इन दो दिनों में खेतिहरों से लेकर बड़े अधिकारियों तक, कुली से लेकर साहूकार पर्यंत अनेक लोगों से मिलने-जुलने के मौके आये। अनेक के मनों का आभास भी हमें मिला। पौधा शनैः शनः ऊपर की ओर बढ़

रहा है और उसी गति से वह जड़ भी पकड़ता जा रहा है । फिर भी यदि एक कुशल माली बनकर इस पौधे की यथोचित निगरानी न की गई तो कौन कह सकता है कि क्या होगा और क्या न होगा !

मुशायरा

मेरे मन में इस प्रकार की आशंका भले ही हो पर काश्मीरी जनता का आत्मविश्वास कितना है इसका थोड़ा सा अनुभव रात्रि के मुशायरे में प्राप्त हुआ । १० बजे के करीब जब हम मुशायरे में शामिल होने के लिए मंडप में प्रविष्ट हुए तो “जलाने का वक्त आया रे, जलाने का वक्त आया रे” ये शब्द उच्च स्वर में गाये जा रहे थे । रंगमंच पर मध्य भाग में अध्यक्ष पंडितजी बैठे हुए थे । उनके चारों ओर कविगण बैठे हुए थे । मुझ जैसे अरसिक व्यक्ति को पात्रता न होते हुए भी पंडितजी के समीप का स्थान प्रदान किया गया । “युगों से हमें दारिद्र्य में रखने वाली जमींदारी की प्रथा को ‘जलाने का वक्त आया रे’, हमें अज्ञान में रखने वाले जगत् की संस्कृति से अलिप्त रखने वाले मुस्ला-मौलवियों के धर्म को भेलम में ‘बहाने का वक्त आया रे’, स्वार्थी साहूकार एवं अत्याचारी राजसत्ता के पर्वतों से परिवेष्टित अपने जीवन को मुक्त करने के लिए ‘इन पहाड़ों को रगड़ने का वक्त आया रे,’ इस प्रकार यह शायर गाता जा रहा था । कुछ देर तक तो मुझे अच्छा लगा, पर जब कुछ जी उकताने लगा तो मैंने अपने पास बैठे हुए खुर्शीदलाल से कहा—“अब तो सोने का वक्त आया रे ।”

एक के बाद एक शायर ध्वनि-विस्तारक के समीप आता । कोई पहाड़ी बोली में, कोई काश्मीरी भाषा में, कोई फारसी में और कोई उर्दू में शायरी करके सुनाता था । पर उन सब की शायरी का विषय एक ही था और वह था रात्रि का दृश्य । “देखो, देखो, आज ‘नये काश्मीर’ का

जन्म देखने के लिए यह चांद अपना मलिन मुख भेलम के स्फटिकनिर्मल पात्र में धोकर ऊपर आ रहा है। ये युगों के साक्षी तारे इसके पालने पर के भालर बने हुए हैं। क्या कहते हो, तुम्हें इस घटना का अर्थ बोध नहीं होता ? ज़रा अपने अंतःकरण के कपाट खोलकर देखो। तुम्हें विरोध करने के कारण पश्चाताप होता हो तो आओ हमारा 'शेरे काश्मीर' उदार बुद्धि है। सद्वृत्ति पूर्वक रहो। लड़ाई भगड़े से किस का हित हुआ है ? यदि तुम यों रास्ते पर नहीं आओगे तो फिर "शमशीर से काम लेना होगा।" शायर ने ऊंचे स्वर में शेर पढ़ा। हजारों श्रोताओं ने चिल्लाकर कहा, "शमशीर से काम लेना होगा।" शेख साहब बोले— "हम तो अहिंसा के मानने वाले हैं," पर श्रोतागण दुहराते ही रहे, "हां हां, शमशीर से काम लेना होगा।"

जगन्नाथ आज़ाद ने एक नज़म पढ़ी। १५ अगस्त १९४७ के दिन 'किस पर क्या गुजरी' इसका बहुत ही मार्मिक एवं काव्यमय वर्णन उस में था। सादिक ने जब कहा— "न हम खुदा के बंदे यार बंदे हैं वतन के" तो अब्दुल्ला साहब मौलवी सईद से बोले, देखिये, देखिये, ये क्या काफ़िरों की तरह कह रहे हैं। थोड़ी ही देर में श्रोतृ-वृन्द की ओर से "जोश, जोश" की मांग की गई। ये महानुभाव पंडित जी के पास ही बैठे हुए थे और क्षण-क्षण पर पान के बीड़े मुंह में डालते जा रहे थे। सर्प-यज्ञ में जिस प्रकार एक के बाद दूसरा सर्प यज्ञकुण्ड में पड़ता जाता था उसी प्रकार एक के बाद एक पान का बीड़ा उनके मुख-कुण्ड में पड़ता जा रहा था। जब वे ध्वनिक्षेपक के नजदीक आये और अपनी नजम कहने लगे तब इस 'तांबूल-वीटिका यज्ञ' की सफलता की प्रतीति मुझे हुई। मैं यह उम्मीद लगाये बैठा था कि इतने पान खा डालने के बाद 'रंगीनी'

की बहार आने के कारण 'लैला-मजनू' का काव्य निकलेगा। पर इस वातावरण में "साजन और बालम" के काव्य के लिये गुंजाइश नहीं थी। 'रंगिनी' की जगह 'रंगदार' वृत्ति ही उनके काव्य से स्फुटित हो रही थी। ऐसा लगता था मानो काश्मीर का अभिमान, निश्चय और उत्साह सन्देह रूप में हमारे सामने खड़ा हो। काश्मीर का वर्णन करते समय काश्मीर का स्वर्ग-निर्माण कर चुकने के बाद जब उन्होंने कहा कि अब स्वर्ग बचा नहीं, तब मैंने देखा सारा श्रोतृ-समुदाय फणधर की भाँति डोल रहा था और उनके काव्य के साथ पूर्ण तन्मय हो रहा था।

भारत के कंठाभरण की मणि

काश्मीर के स्वातंत्र्य का अभिरक्षण कोई सुगम वस्तु नहीं है। काश्मीर आज भारत के कंठाभरण की मणि है। काश्मीर भारत का भाल-प्रदेश है। यहां भाग्य-हीनता के लिये स्थान नहीं, शक्ति-हीन के लिये तो कतई नहीं। "नामदों को दुनियां जीने नहीं देती" ज्यों ही ये शब्द जोश के मुँह से निकले सारे श्रोताओं की अवस्था वैसी ही हो गई जैसी कि हम ने इस लेख के आरम्भ में बताई है। ऐसा लगता था मानों कोई नाग अपना फन उठाकर फुफकार रहा हो। अशक्त प्राणी को इस जग में सुख नहीं ('दूबी वीक इज़ मिज़रेबल') मिल्टन के इन शब्दों का मुझे उस समय स्मरण हो आया। उस खलभलाकर उमड़े हुए जनसागर को देखकर अभिनव काश्मीर अपने नव प्राप्त स्वातंत्र्य को किन निगाहों से देखता है और उसके लिये वह क्या कुछ करने के लिये तैयार है, इसका ठीक-ठीक परिज्ञान मुझे उस समय हुआ।

मुशायरा खत्म हो गया तथापि "जीने नहीं देती, जीने नहीं देती" ये शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे। अगले दिन विमान में बैठ कर हम

जब दिल्ली की ओर आ रहे थे, मुझे थोड़ी-सी जंघ आ गई । ‘जीने नहीं देती, जीने नहीं देती’ ऐसा कहते हुए ही मैं जागा । तब फ़िरोज़ ने पूछा “काका क्या हुआ !” मैंने कहा—“नामदों को दुनिया जीने नहीं देती, अजी जीने नहीं देती ।”

